THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182151

UNIVERSAL
LIBRARY

हिन्दी माधुरी

भाग—३

प्रकाशक

दक्षिण भारत हिन्दुस्तानी प्रचार सभा,

मद्रास

सर्वाधिकार स्वरक्षित] १९४७ [दाम रु. १-१४-०

हिन्दुस्तानी प्रचार पुस्तकमाला, पुष्प—४८.

संस्करण—चौथा १९४७
४.

HINDUSTANI PRACHAR PRESS, T'NAGAR—P.I. Card 154

प्रकाशक का वक्तव्य

किसी भी जीवित भाषा की कसौटी उसका गद्य ही है। पद्य तो कतिपय विचारों और आत्माओं की अद्भुत सूझ के नमूने हैं। गद्य का जीवित-जागृत जगत से सीधा संबन्ध है। उससे प्रतिदिन का नाता है। गद्य ही साहित्य के एक विस्तृत क्षेत्र को घेरे हुए हैं। वस्तुतः यही राष्ट्रीय मस्तिष्क की जीती-जागती सूची है।

यह बड़े हर्ष की बात है कि हम "हिन्दी माधुरी" का यह तीसरा भाग पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं। इस संकलन में उन्हीं लेखकों की कृतियों का चयन किया गया है, जो साहित्य-क्षेत्र के माने हुए लेखक हैं। जिनकी भाषा में प्रौढ़ता है, परिमार्जन है और है शैली का सुन्दर समावेश। इसके चयन में सभा की उपाधि परीक्षा (राष्ट्रभाषा विशारद) के स्टैण्डर्ड का ध्यान रखा गया है।

आजकल समूचा संसार राजनीतिक उथल-पुथल से मथा-सा जा रहा है। इसलिए यह उचित समझा गया कि दक्षिण भारत के पाठक इन समकालीन राजनीतिक पारिभाषिक शब्दों से अनभिज्ञ न रहने पायें। इस संकलन में इस बात का भी प्रयत्न किया गया

है कि हिन्दी की विभिन्न उच्च कोटि की शैलियों का भी समावेश हो। प्रत्येक पाठ के आरंभ में लेखकों का परिचय भी दिया गया है, जिससे पाठकों को काफ़ी लाभ पहुँचेगा।

इस संस्करण के सुधार एवं त्रुटियों के संबन्ध में विज्ञ पाठकों की सम्मतियों का हम सहर्ष स्वागत करेंगे।

हमें यह उल्लेख करते हुए हर्ष होता है कि इस भाग का सम्पादन सभा के अनुभवी कार्यकर्ता श्री व्रजनन्दन शर्मा और पं. अवधनन्दनजी ने बड़ी तत्परता एवं लगन के साथ किया है।

जिन लेखकों की इसमें कृतियाँ ली गयी हैं उनके हम आभारी हैं। हमने जहाँ इन लेखों में परिवर्तन करके इन्हें अपनी आवश्यकतानुसार बना लिया है, इसके लिए हम उन लेखकों से क्षमा माँगते हैं।

—प्रकाशक

विषय–सूची

		पृष्ठ
१.	बिसाती—स्व० श्री जयशंकर प्रसाद	१
२.	संसार के सर्वश्रेष्ठ महात्मा—(संकलित)	६
३.	राष्ट्रीय महासभा और मंत्रित्व-ग्रहण—(संकलित)	२०
४.	यह और वह—श्री रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी	३४
५.	गुरु गोविन्द सिंह—पं० नन्दकुमारदेव शर्मा	४१
६.	अहिंसा और तलवार का उसूल—पं० जवाहरलाल नेहरू	५८
७.	मिलन-मुहूर्त—श्री गोविन्दवल्लभ पन्त	७६
८.	फ़ा-हियान की भारत-यात्रा—स्व० पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी	९१
९.	हिन्दी साहित्य और मुसलमान कवि—पं० पदुमलाल पन्नालाल बख़्शी	१००
१०	मुग़लों के समय का भारत—पं० सुन्दरलाल	११२

११.	मौत के मुँह में—श्रीराम शर्मा	१२५
१२.	देशी राज्य तथा नवीन शासन-विधान—(संकलित)	१४१
१३.	प्रेमचन्दजी की कला—श्री जैनेन्द्रकुमार	१५१
१४.	मिनिस्टर—श्री हरिश्चन्द्र	१६४
१५.	स्वदेश—स्व० श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर	१७१
१६.	महाजनी सभ्यता—स्व० श्री प्रेमचन्द	१८८
१७.	हिन्दुस्तानी—श्री राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह	२०२
१८.	दस हज़ार—श्री उदयशंकर भट्ट	२१७
१९.	कठिन शब्दार्थ	

बिसाती

ले०—श्री जयशङ्कर प्रसाद

[यह कहानी श्री स्व० जयशंकर प्रसाद जी की है। 'प्रसाद' जी हिन्दी के माने हुए कवि, नाटककार, उपन्यासकार और कहानी-लेखक थे। आपकी प्रतिभा बहुमुखी थी। आपके नाटक हिन्दी-साहित्य की श्रेष्ठ निधि हैं। आप छायावादी कविता के आचार्य थे। आपका जन्म १८८९ ई० और मृत्यु १९३७ ई० में हुई। आप काशी के रहनेवाले थे। आप संस्कृत-मिश्रित शैली के लेखक थे। आपकी रचनाओं में भावुकता और कल्पना का बड़ा ही सुंदर मिश्रण मिलता है। आप बौद्ध-कालीन घटनाओं के चित्रकार (कवि) थे। भारतवर्ष के पुरातन के प्रति आपके हृदय में असीम श्रद्धा थी। आपने 'कामायनी' नामक बहुत ही उच्च कोटि का महाकाव्य लिखा है। इसके अलावा कई और काव्य भी हैं। दो बड़े-बड़े उपन्यास, पचासों कहानियाँ और दर्जन के क़रीब नाटक लिखे हैं। आपके ग्रन्थों के नाम :—

नाटक—अजातशत्रु, कामना, एक घूँट, करुणालय स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, विशाख, ध्रुवस्वामिनी, राज्यश्री, जनमेजय का नागयज्ञ वग़ैरह। **काव्य**—आँसू, लहर, कामायनी आदि। **उपन्यास**—तितली, कंकाल।]

उद्यान की शैलमाला के नीचे एक हरा-भरा छोटा सा गाँव है। वसन्त का सुन्दर समीर उसे आलिङ्गन करके फूलों के सौरभ से उसके झोंपड़ों को भर देता है। तलहटी के हिम-शीतल झरने उसको अपने बाहुपाश में जकड़े हुए हैं। उस रमणीय प्रदेश में एक स्निग्ध संगीत निरन्तर चला करता है, जिसके भीतर बुलबुलों का कलनाद, कम्प और लहर उत्पन्न करता है।

दाड़िम के लाल फूलों की रंगीली छाया संध्या की अरुण किरणों से चमकीली हो रही थी। शीरीं उसी के नीचे शिलाखण्ड पर बैठी हुई सामने गुलाबों की झुरमुट देख रही थी, जिसमें बहुत से बुलबुल चहचहा रहे थे, समीरण के साथ छूल-छुलैया खेलते हुए अवकाश को अपने कलरव से गुंजरित कर रहे थे।

शीरीं ने सहसा अपना अवगुण्ठन उलट दिया। प्रकृति प्रसन्न हो हँस पड़ी। गुलाबों के दल में शीरीं का मुख राजा के समान सुशोभित था। मकरन्द मुँह में भरे दो नील भ्रमर उस गुलाब से उड़ने में असमर्थ थे। भौंरों के पर निस्पंद थे। कँटीली झाड़ियों की कुछ परवाह न करते हुए बुलबुलों का उनमें घुसना और उड़ भागना शीरीं तन्मय होकर देख रही थी।

उसकी सखी जुलेखा के आने से उसकी एकान्त भावना भंग हो गयी। अपना अवगुण्ठन उलटते हुए जुलेखा ने कहा—"शीरीं! वह तुम्हारे हाथों पर बैठ जानेवाला बुलबुल, आजकल नहीं दिखलाई देता?"

आह खींचकर शीरीं ने कहा—"कड़े शीत में अपने दल के साथ मैदान की ओर निकल गया। वसन्त तो आ गया, पर वह नहीं लौट आया।"

"सुना है कि ये सब हिन्दोस्तान में बहुत दूर तक चले जाते हैं। क्या यह सच है शीरीं?"

"हाँ प्यारी! उन्हें स्वाधीन विचरना अच्छा लगता है। इनकी जाति बड़ी स्वतन्त्रता-प्रिय है।"

"तूने अपनी घुंघराली अलकों के पाश में उसे क्यों न बाँध लिया?"

"मेरे पाश उस पक्षी के लिए ढीले पड़ जाते थे।"

"अच्छा लौट आवेगा, चिन्ता न कर। मैं घर जाती हूँ।"

शीरीं ने सिर हिला दिया।

जुलेखा चली गयी।

* * *

जब पहाड़ी आकाश में सन्ध्या अपने रंगीले पट फैला देती, जब विहंग केवल कलरव करते पंक्ति बाँधकर उड़ते हुए गुंजान-झाड़ियों की ओर लौटते और अनिल में उनके कोमल परों से लहर उठती, जब समीर अपनी झोंकेदार तरंगों में बार-बार अन्धकार को खींच लाता, जब गुलाब अधिकाधिक सौरभ लुटाकर हरी चादर में मुँह छिपा लेना चाहते थे; तब शीरीं की आशा भरी दृष्टि कालिमा से अभिभूत होकर पलकों में छिपने लगी। वह जागते हुए भी एक स्वप्न की कल्पना करने लगी।

"हिन्दोस्तान के एक समृद्धिशाली नगर की एक गली में एक युवक पीठ पर गट्ठर लादे घूम रहा है। परिश्रम और अनाहार से उसका मुख विवर्ण है। थककर वह किसी के द्वार पर बैठ गया है। कुछ बेचकर उस दिन की जीविका प्राप्त करने की उत्कण्ठा उसकी दयनीय बातों से टपक रही है। परन्तु वह गृहस्थ कहता है—"तुम्हें उधार देना हो तो दो, नहीं तो अपनी गठरी उठाओ। समझे आग़ा?"

युवक कहता है—"मुझ में उधार देने की सामर्थ्य नहीं।"

"तो मुझे भी कुछ नहीं चाहिए।"

शीरीं अपनी इस कल्पना से चौंक उठी। काफ़िले के साथ अपनी सम्पत्ति लादकर ख़ैबर के गिरि-संकट को वह अपनी भावना से पादाक्रान्त करने लगी।

उसकी इच्छा हुई कि हिन्दोस्तान के प्रत्येक गृहस्थ के पास हम इतना धन रख दें कि वे अनावश्यक होने पर भी उस युवक की सब वस्तुओं का मूल्य देकर उसका बोझ उतार दें। परन्तु सरल शीरीं निस्सहाय थी। उसके पिता एक क्रूर पहाड़ी सरदार थे। उसने अपना सिर झुका लिया। कुछ सोचने लगी।

सन्ध्या का अधिकार हो गया। कलरव बन्द हुआ। शीरीं की साँसों के समान समीर की गति अवरुद्ध हो उठी। उसकी पीठ शिला से टिक गयी।

दासी ने आकर उसको प्रकृतिस्थ किया। उसने कहा—"बेगम बुला रही हैं चलिये, मेहँदी आ गयी।"

* * *

महीनों हो गये। शीरीं का ब्याह एक धनी सरदार से हो गया। झरने के किनारे शीरीं के बाग में शबरी खिंची है। वसन्त का पवन अपने एक-एक थपेड़े में सैकड़ों फूलों को रुला देता है। मधु-धारा बहने लगती है। बुलबुल उसकी निर्दयता पर क्रन्दन करने

लगते हैं। शीरीं सब सहन करती रही। सरदार का मुख उत्साहपूर्ण था। सब होने पर भी वह एक सुन्दर प्रभात था।

एक दुर्बल और लम्बा युवक पीठ पर गट्ठर लादे सामने आकर बैठ गया। शीरीं ने उसे देखा। पर वह किसी की ओर देखता नहीं। अपना सामान खोलकर सजाने लगा।

सरदार अपनी प्रेयसी को उपहार देने के लिए काँच की प्याली और काश्मीर के सामान छाँटने लगे।

शीरीं चुपचाप थी। उसके हृदय-कानन में कलरवों का क्रन्दन हो रहा था। सरदार ने दाम पूछा। युवक ने कहा—"मैं उपहार देता हूँ, बेचता नहीं। ये विलायती और काश्मीरी सामान मैंने चुनकर लिये हैं। इनमें मूल्य ही नहीं, हृदय भी लगा है। ये दाम पर नहीं बिकने।"

सरदार ने तीक्ष्ण स्वर में कहा—"तब मुझे नहीं चाहिए, ले जाओ—उठाओ।"

"अच्छा उठा ले जाऊँगा। मैं थका हुआ आ रहा हूँ, थोड़ा अवसर दीजिये, मैं हाथ-मुँह धो लूँ"-कहकर युवक भरभराई हुई आँखों को छिपाते हुए उठ गया।

सरदार ने समझा, झरने की ओर गया होगा। विलम्ब हुआ, पर वह न आया। गहरी चोट और निर्मम व्यथा को वहन करते, कलेजा हाथ से पकड़े हुए, शीरीं गुलाब की झाड़ियों की ओर देखने लगी। परन्तु उसकी आँसू भरी आँखों को कुछ न सूझता था।

सरदार ने प्रेम से उसकी पीठ पर हाथ रखकर पूछा—"क्या देख रही हो?"

"एक मेरा पालतू बुलबुल शीत में हिन्दोस्तान की ओर चला गया था। वह लौटकर आज सवेरे दिखलाई पड़ा। पर जब वह पास आ गया और मैंने उसे पकड़ना चाहा तो वह उधर कोहक़ाफ़ की ओर भाग गया!" शीरीं के स्वर में कम्प था। फिर भी वे शब्द बहुत सँभलकर निकले थे। सरदार ने हँसकर कहा—"फूलों को बुलबुल की खोज? आश्चर्य है!"

बिसाती अपना सामान छोड़ गया, फिर लौटकर नहीं आया। शीरीं ने बोझ तो उतार लिया, पर दाम नहीं दिया।

संसार के सर्वश्रेष्ठ महात्मा

सभी देशों और सभी जातियों में महान् आत्माएँ जन्म लेती हैं, यद्यपि उनके विचारों को सब लोग नहीं मानते। परन्तु उनके माहात्म्य को सभी स्वीकार करते हैं। तब माहात्म्य है क्या, उसका क्या लक्षण है? किन कारणों से हम महात्मा को महात्मा मानते हैं? क्या जिसके अनुयायी अधिक हों, वह महात्मा है? क्या अधिक लोगों का अनुयायी होना माहात्म्य है? अथवा माहात्म्य कोई दूसरी ही चीज़ है? कुछ समय पहले इङ्गलैंड में एक प्रश्न उठा था कि संसार के सर्वश्रेष्ठ छः

महापुरुष कौन हैं? एक संवाददाता के पूछने पर वेल्स साहब ने भी अपने विचार प्रकट किये थे।

शीर्षस्थानीय महापुरुषों में सबसे पहला स्थान वेल्स साहब ने महात्मा ईसा मसीह को दिया था। उनका कहना है—संसार के इतिहास में ये मुझे सबसे अधिक चित्ताकर्षक व्यक्ति मालूम होते हैं। इसमें संदेह नहीं कि मैं एक ऐसे देश में रहता हूँ जहाँ लाखों करोड़ों स्त्री-पुरुषों की दृष्टि में ईसा मसीह मनुष्य नहीं, वरन् उससे कहीं उच्च माने जाते हैं। किन्तु ऐतिहासिक को इस बात से कोई सरोकार नहीं। उसको तो केवल उन्हीं तथ्यों से प्रयोजन रहता है जिनकी प्रामाणिकता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता; केवल ऐसे ही ऐतिहासिकों के विचार संसार में सर्वत्र एक समान रूप से माननीय हो सकते हैं। प्राचीन काल के ऐतिहासिकों ने तो ईसामसीह को महत्व नहीं दिया। मानो उनकी शिक्षाओं के प्रचार एवम् विचार से हमारे ऊपर कोई प्रभाव ही नहीं पड़ा। उनकी राय में ईसा मसीह का सम्बन्ध केवल रविवारों से रहता है, जिस दिन हमारे इहलौकिक सभी कार्य बन्द रहते हैं। ऐसी दशा में हमारे सांसारिक जीवन और ईसा मसीह से कोई प्रकृत सम्बन्ध हो ही क्या सकता है? किन्तु क्या वह आश्चर्य की बात नहीं है कि आज १९०० वर्ष के बाद मुझ जैसे इतिहास-प्रेमी को यह स्वीकार करना पड़ता है कि नाज़रथ के इस सीधे-सादे व्यक्ति का व्यक्तित्व इतना ऊँचा था कि आज सबसे पहले वही मेरा ध्यान आकर्षित करता है। इसमें सन्देह नहीं कि उसके

जीवन के साथ बहुत ही दन्त-कथाएँ और पोप-लीलाएँ जोड़ दी गयी हैं जिससे कोई-कोई उसके ऐतिहासिक व्यक्ति होने में भी सन्देह करने लगते हैं। गास्पेल (सुसमाचारों) में भी ईसा की जीवन-सम्बन्धी घटनाओं का जो उल्लेख है उसमें बड़ा मतभेद है, तथापि उन घटनाओं में ईसा मसीह के व्यक्तित्व की एक ऐसी स्पष्ट झलक है कि ऐतिहासिक के लिए उसके जीवन को तथ्य मानने की अपेक्षा कपोल-कल्पना मानना कहीं अधिक कठिन हो जाता है। बाइबिल को पढ़ाते समय हमें ईसा मसीह का वह आकर्षण प्रत्यक्ष मालूम होने लगता है जिसके द्वारा वे राह चलते हुए लोगों को अपनी ओर खींच लिया करते थे। उन्होंने लोगों के भीतर नवजीवन और प्रेम का सञ्चार किया था। उनके दर्शनमात्र से दीन-दुखी अपना दुःख भूल जाते थे। किन्तु संसार में ऐसे अनेक महात्मा हो गये हैं। इसलिए केवल इन्हीं गुणों के कारण ईसा इतिहास में सर्वोच्च स्थान नहीं पा सकते। मैं क्यों उनको सर्वोच्च स्थान देना चाहता हूँ, इसका कारण उनकी एक सीधी-सादी तथापि गम्भीर शिक्षा है, जो उन्होंने सबसे पहले संसार को दी है। शिक्षा यह है कि ईश्वर हम सबका पिता है, और दयालु पिता है। पृथ्वी पर स्वर्ग के राज्य के आने का सन्देश भी पहले-पहल उन्होंने ही दिया है।

यह एक ऐसी शिक्षा है जिससे मनुष्य की विचार-धारा की कायापलट हो सकती है, किन्तु ईसा के अनुयायियों ने उसको ठीक-ठीक नहीं समझा। यदि लोग उनकी शिक्षा का यथार्थ मर्म समझ लेते तो संसार की आज ऐसी दयनीय अवस्था न होती। तथापि जिस

दिन से उन्होंने अपने पवित्र सन्देश को सुनाना आरम्भ किया था, उसी दिन से संसार में परिवर्तन होना प्रारंभ हो गया है। संसार में धीरे-धीरे सहानुभूति, सहिष्णुता और सहकारिता के जो भाव जाग्रत हो रहे हैं उनसे आशा है कि एक दिन अवश्य पृथ्वी पर सार्वभौमिक भ्रातृ-भाव की प्रतिष्ठा हो जायगी और यही उनकी शिक्षा का असली मर्म है।

यहाँ मैं यह भी बतला देना चाहता हूँ कि ऐतिहासिक किसी व्यक्ति को बड़ा और किसी को छोटा क्यों कह सकता है। ऐतिहासिक की कसौटी यह नहीं है कि उसने कितना अर्थ सञ्चय किया अथवा भौतिक सृष्टि में उसने कौन-कौन सी वस्तुओं का निर्माण किया है। वास्तव में, जो भौतिक सृष्टि आज है वह कल नहीं टिक सकती, इसलिए उसकी एकमात्र कसौटी यह है कि वह किस व्यक्ति के जीवन की आलोचना कर रहा है, उनके कारण संसार में कोई परिवर्तन हुआ है या नहीं? क्या उसके द्वारा मनुष्य अपने जीवन पर किसी नवीन पहलू से दृष्टिपात करने लगा है? क्या उसने मनुष्यों में ऐसी स्फूर्ति और उमङ्ग का सञ्चार कर दिया है जो उसके बाद भी स्थायी रूप से टिक सके? इसी कसौटी पर कसने से हमको ईसा मसीह का स्थान सर्वोच्च मालूम होता है। वे ईसाई मत के प्रवर्तक हैं, इसलिए वे मुझे सबसे बड़े मालूम होते हैं, इस बात में कोई तथ्य नहीं है, क्योंकि मैं तो अपने आपको ईसाई कहने को भी तैयार नहीं। केवल शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से ही ईसा मसीह महान पुरुषों की सूची में सर्वोच्च स्थान पाने योग्य हैं।

इसी सूची में ईसा मसीह के बाद दूसरा स्थान गौतम बुद्ध को मिलना चाहिए, किन्तु गौतम बुद्ध के विषय में भी हमें उसी कठिनाई का सामना करना पड़ता है, जो ईसा मसीह के विषय में थी। क्योंकि गौतम बुद्ध के भक्तों ने भी उनके जीवन को अपने भावावेश में अनेक किंवदन्तियों से आच्छादित कर दिया है। परंतु गौतम बुद्ध का जीवन इस प्रकार की किंवदन्तियों से चाहे जितना अधिक क्यों न ढक जाय, किन्तु उससे उनके व्यक्तित्व का लोप कदापि नहीं हो सकता। कहानियों के भीतर सदैव हमें एक शुद्ध भक्त जिज्ञासु एवं शक्ति-सम्पन्न आत्मा की झलक दिखाई देती रहेगी। गौतम के जीवन को हम कदापि कहानी नहीं कह सकते। गौतम को क्यों हम सूची में स्थान दे रहे हैं, इसका कारण यह है कि उन्होंने भी संसार को एक सार्वभौमिक सन्देश सुनाया था। उसमें देश और काल के लिए कोई स्थान नहीं। उनके विचार इतने प्रौढ़ थे कि आधुनिक काल के उत्तम से उत्तम विचार भी उनसे आगे नहीं निकल सके हैं। जो सिद्धान्त उन्होंने स्थिर किये थे वे सर्वथा अक्षय हैं। उनका सार यह है कि संसार के समस्त दुःखों और यातनाओं का मूल कारण हमारी कभी तृप्त न होनेवाली स्वार्थमूलक वासना है।

इस वासना के मुख्य तीन रूप हैं, और तीनों अतिशय दुःखदायी हैं, पहला रूप इन्द्रिय-तृप्ति और काम-लिप्सा है और दूसरा है व्यक्तिगत रूप के अमर हो जाने की इच्छा। और सबसे अन्त में सांसारिक अभ्युदय और ऐश्वर्य पाने की इच्छा प्रबल

होती है। मनुष्य को इन तीनों प्रकार की वासनाओं को जीतना होगा। मतलब यह कि यदि मनुष्य को शान्ति की इच्छा है तो उसे व्यक्तिगत स्वार्थ छोड़ देना चाहिए। बस इसी का नाम निर्वाण है। निर्वाण का अर्थ वास्तव में, विनाश नहीं है; जैसा हम लोग भूल से समझ बैठे हैं। उसका अर्थ तो केवल यही है कि हमारी क्षुद्र वासना-नाश से ही आत्मा को चिरभिलषित शान्ति प्राप्त हो सकती है।

गौतम बुद्ध के पाँच सौ वर्ष बाद ईसा मसीह ने भी ठीक यही बात कही थी। मनुष्यों को सबसे पहले ईश्वरीय नियम का अनुसन्धान करना चाहिए। जो मनुष्य अपनी जान बचाना चाहेगा उसी को उससे हाथ धोना पड़ेगा। भला इस वाक्य का और क्या अर्थ हो सकता है? यही न कि हमको अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के ऊपर विजय पाना चाहिए। ईसा मसीह के जीवन की भाँति बुद्ध का जीवन-चरित्र पढ़ते समय हमें पग-पग पर उनके विशाल हृदय और प्रखर बुद्धि का अनुभव होता है। उन्होंने लोगों को एक दिव्य ज्योति के दर्शन कराये थे। यद्यपि वे हमारे इतिहास के एक कोने में खड़े हुए हैं तथापि उन्होंने समकालीन लोगों के हृदय में जो क्रान्ति मचा दी थी, उसका सिलसिला आज तक चला जाता है और अनादि काल तक चला जायगा। सम्वाददाता ने यह समझकर कि शायद मिस्टर वेल्स संसार के महापुरुषों में केवल धर्म-संस्थापकों और धर्म-प्रचारकों को ही स्थान देना चाहते हैं, एकाएक यह प्रश्न किया कि आपकी इस आदरणीय सूची में हज़रत मुहम्मद और कान्फ़्यूशियस

को भी आसन मिल सकता है या नहीं? इसके उत्तर में मिस्टर वेल्स ने जो कुछ कहा उससे उनका उपर्युक्त वर्णन और भी स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने कहा—चीन के विषय में तो मुझे इतना अधिक ज्ञान नहीं कि मैं कान्फ़्यूशियस को इन शीर्षस्थानीय महापुरुषों की श्रेणी में परिगणित कर सकूँ। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि उनका मस्तिष्क भी प्रौढ़ था और उनकी आत्मा विशाल थी। लोगों का तो यह विचार है कि चीनी लोगों के चरित्र-गठन पर जितना प्रभाव कान्फ़्यूशियस का पड़ा है उतना चीन के बहुत से शाहंशाहों का भी नहीं पड़ा। यह कथन भी यथार्थ मालूम होता है, किन्तु उनकी शिक्षाएँ ईसा मसीह अथवा गौतम बुद्ध की शिक्षाओं की भाँति सार्व-भौमिक नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि मुहम्मद के द्वारा एक ऐसी शक्ति का जन्म हुआ है जो मुहम्मद से कहीं बड़ी थी; वह शक्ति इस्लाम की शक्ति है। वास्तव में इस्लाम-धर्म अपने प्रवर्तक की अपेक्षा कहीं अधिक सारगर्भित था और है। अतएव कान्फ़्यूशियस अथवा मुहम्मद की जगह जिसको मैं इस सूची में स्थान देना चाहता हूँ, वह एक प्राचीन यूनानी है। इसका नाम अरिस्टाटल अथवा अरस्तू था। इन्होंने भी संसार को एक नया पाठ पढ़ाया था। इनके पहले लोगों के हृदय में ऐसे प्रश्न उठा करते थे—मैं क्या हूँ और यह संसार क्या है? किन्तु किस प्रकार इनको हल कर सकते हैं, यह कुछ भी उनकी समझ में नहीं आता था। उन्होंने बतलाया था कि इसके लिए हमें सबसे पहले उन बातों और तथ्यों का वर्गीकरण एवम्

विश्लेषण करना चाहिए जो हमें अपने प्रश्नों और जिज्ञासुओं के उत्तर में मालूम होते हैं। ये सिकन्दर के गुरु थे। अतएव उसकी सहायता और सहानुभूति के सहारे इन्होंने बड़ी तत्परता से यही काम करना प्रारम्भ कर दिया। एक समय तो इनके पास पक हज़ार शिष्य हो गये थे, जो प्राकृतिक तथ्यों का संग्रह करने के लिए समस्त एशिया और यूनान में फैले हुए थे। प्रसिद्ध तो यह भी है कि इन्होंने अपने कुछ अनुयायियों को मिस्र भी भेजा था और उन्होंने नील नदी के पूरब का एक नक्शा भी तैयार किया था। सारांश यह कि राजनैतिक और प्राकृतिक विज्ञान के यही सबसे पहले प्रवर्तक हैं। इसमें सन्देह नहीं कि सिकन्दर की आकस्मिक मृत्यु से इनका काम रुक गया, और लोगों ने फिर वही अपनी पुरानी चाल ग्रहण कर ली। किन्तु अरस्तू ने जिस वैज्ञानिक शैली का आविष्कार किया वह ऐसी महत्वपूर्ण थी कि लोग उसे कदापि भूल नहीं सकते थे। यद्यपि अफ़लातून आदि जैसे तत्त्ववेत्ताओं ने उसकी अवहेलना करनी चाही, तथापि लोग लौट-लौटकर इन्हीं के सिद्धान्त पर आते थे। अफ़लातून का सिद्धान्त था—अपने जीवन पर ध्यान दो और उसको आदर्श जीवन बनाओ। किन्तु अरस्तू का कहना था कि सबसे पहले हमें तथ्यों को एकत्र करना चाहिए। उनके एकीकरण और विश्लेषण के बिना काम नहीं चल सकता। संसार कैसा होना चाहिए, इसकी अपेक्षा हमें इस बात पर अधिक ध्यान देना होगा कि संसार कैसा है? युवावस्था में मैं अफ़लातून का प्रेमी था, उसके दर्शन की कल्पना

और कवित्व ने मेरे हृदय को वशीभूत कर लिया था; किन्तु जब, इतिहास की भूमिका लिखते समय मुझे तथ्यों के कार्यकारण की खोज करनी पड़ी तब मुझे मालूम हुआ कि अरस्तू के जमाये हुए वैज्ञानिक अङ्कुर का महत्व संसार के इतिहास में कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। असली बात तो यह है कि यदि हम स्वीकार करते हैं कि संसार के विकास में आधुनिक विज्ञान का हाथ है तो हमें यह मानने में भी कोई आपत्ति न होनी चाहिए कि अरस्तू संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरुषों में स्थान पा सकते हैं, क्योंकि वही तो वास्तव में इस वैज्ञानिक शैली के आदि प्रवर्तक हैं।

इस पर सम्वाददाता ने यह प्रश्न किया कि अरस्तू को तो आप महान् पुरुषों की सूची में ले रहे हैं, किन्तु सिकन्दर आदि जैसे सम्राटों को, जिनको ऐतिहासिकों ने एक स्वर से 'महान' की उपाधि दी है, जिनकी कीर्ति से इतिहास के सैकड़ों सफ़े रँगे हुए हैं, वे क्या आपकी इस सूची में स्थान नहीं पा सकते? मिस्टर वेल्स ने स्पष्ट रूप से उत्तर दिया—नहीं, मेरी सम्मति में सिकन्दर, सीज़र, नेपोलियन आदि सम्राट इस सूची में रखे जाने योग्य नहीं, क्योंकि इन्होंने संसार की भलाई के लिए कोई ऐसा काम नहीं किया जिसका प्रभाव उनको मृत्यु के बाद स्थायी रूप से बना रहता। हाँ, सम्राटों में केवल एक सम्राट ऐसा हुआ है, जिसको हम सूची में ले सकते हैं। वह सम्राट सीज़र और नेपोलियन से कई शताब्दी पहले हुआ था। उसका साम्राज्य अफ़ग़ानिस्तान से लेकर मद्रास तक फैला हुआ था।

संसार के इतिहास में केवल एक यही सम्राट ऐसा हुआ है जिसने विजय प्राप्त करने के बाद युद्ध को सदैव के लिए तिलाञ्जलि दे दी ; वह सच्चा युद्ध-वीर था। उसने अपने जीवन में एक ही युद्ध किया और उसमें सफलता प्राप्त की। किन्तु उसकी यातनाओं को देखकर उसने प्रण कर लिया कि मैं अब आजीवन कभी युद्ध नहीं करूँगा, और उसी दिन से अपनी प्रजा की भलाई में तल्लीन हो गया। उसने स्थान-स्थान पर कुएँ खुदाये और सड़कों के किनारे पथिकों के आराम के लिए छायादार वृक्ष लगवाये। दान-संस्थाओं के सुप्रबन्ध और देख-भाल के लिए उसने बहुत से निरीक्षक भी नियुक्त किये। उसने जड़ी-बूटियों के बाग़ और औषधालय खोले और स्त्रियों की शिक्षा का प्रबन्ध किया। इतना ही नहीं, उसने अपने बृहत् साम्राज्य में गौतमबुद्ध की शिक्षाओं के प्रचार के लिए अनवरत उद्योग किया। उसकी इच्छा थी कि लोग बुद्ध की शिक्षाओं का मर्म समझ लें और उसके अनुसार चलकर आदर्श जीवन व्यतीत करें। इस प्रकार वह लगातार अट्ठाईस वर्ष तक अपनी प्रजा के हित-चिन्तन में संलग्न रहा। उसके हृदय में स्वार्थ की गन्ध न थी ; इसलिए अशोक आज भी संसार के सैकड़ों हज़ारों राजाओं और सम्राटों के मंडल में देदीप्यमान नक्षत्र की तरह चमक रहा है। यही कारण है कि जब हम उसका स्मरण करते हैं तब हमारे हृदय में एक विशेष प्रकार की श्रद्धा उमड़ पड़ती है जो सिकन्दर, सीज़र या नेपोलियन के स्मरण से नहीं होती।

इतिहास की भूमिका पढ़ने के पहले सम्वाददाता ने कभी

अशोक का नाम नहीं सुना था, इसलिए अशोक को इस सूची में स्थान पाते देखकर उसको महान आश्चर्य हुआ। उसने कहा—यदि आप प्रजाहित को ही सम्राट की योग्यता का प्रमाण समझते हैं तो यूरोप के सम्राट नहीं तो कम से कम यहाँ के सुप्रसिद्ध मंत्री जैसे रिचल्, टेलीरेण्ड, पिट इत्यादि आसानी से आपकी सूची में आ सकते हैं। मिस्टर वेल्स ने कहा—नहीं, इनके व्यक्तित्व में कोई महत्व नहीं। इनके सब काम चलाऊ हैं।

पर हाँ, एक अंग्रेज़ भी ऐसा है जो मेरी समझ में इस गणना में आ सकता है। यद्यपि इस व्यक्ति में महापुरुषों के योग्य बहुत गुणों का अभाव था, तथापि इसने मानवीय जगत् को विकास-मार्ग की ओर बढ़ाने में बड़ी सहायता दी है। हमारा सङ्केत रोज़र बेकन की ओर है। हमें इसके व्यक्तिगत जीवन के विषय में अधिक ज्ञान नहीं और यद्यपि इसकी पुस्तकों की भाषा उद्दण्ड एवम् कहीं-कहीं अशिष्टतापूर्ण भी है तथापि उनसे एक ही ध्वनि निकलती है—तथ्यों का ज्ञान और प्रयोग। आज से ६०० वर्ष पहले इसने कहा था कि यदि मनुष्य अपने-आपको अज्ञान एवम् साक्ष्य के अनुचित प्रभावों से छुड़ा ले तो मैं दावा करता हूँ कि तथ्यों के विश्लेषण एवम् प्रयोग से मनुष्य-जाति का असीम लाभ हो सकता है। इसके कथन का निम्न लिखित अवतरण तो न जाने कितनी बार उद्धृत हो चुका है—बिना पतवारों के नावों को खेने के लिए मशीनें बनवाई जा सकती हैं। नावें ही नहीं, मेरी समझ में मशीनों की सहायता से नदियों और

समुद्रों के ऊपर जहाज़ भी एक या दो व्यक्तियों द्वारा बड़ी तेज़ी से चलाये जा सकते हैं। इसी प्रकार ऐसी गाड़ियाँ भी बनायी जा सकती हैं जिनमें पशुओं को जोतने की आवश्यकता नहीं होती। मेरा कहना तो यहाँ तक है कि मनुष्य उड़नेवाली मशीन भी बना सकता है जिनमें बैठकर कोई भी मनुष्य साधारण युक्ति के द्वारा कृत्रिम बाजुओं के सहारे हवा में पक्षियों की भाँति उड़ता चला जायगा। इस प्रकार रोज़र बेकन ने मनुष्यों की विचार-धारा को एक नयी दिशा में प्रवाहित कर दिया था। यह उसी का फल है कि आज हम लोग मशीनों में इतनी अधिक उन्नति कर गये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि बहुत से लोगों को बेकन की महत्ता में सन्देह होगा और बहुत से लोग इस सूची में बेकन के आसन पर किसी दूसरे सज्जन को प्रतिष्ठित करना चाहेंगे। किन्तु इसमें संशय नहीं कि हमारी सभ्यता के विकास पर बेकन का प्रभाव चिरस्थायी है। हाँ, इस बात का निर्णय करना अवश्य कठिन है कि इस प्रभाव में बेकन के समकीलन व्यक्तियों का कितना हाथ है; क्योंकि कभी-कभी यह देखा गया है कि मनुष्य केवल संयोग-वश थोड़ी-सी भी प्रतिकूलता होती तो कदापि उस कार्य को सम्पादित न कर सकता। किन्तु कुछ भी हो; बेकन का कार्य बेकन का ही कार्य है, और इसलिए इतिहास में उनका स्थान सदैव अक्षुण्ण हो गया है।

इनी सूची को पूरा करने के लिए अब हमें अपने ही युग के समीप आना पड़ेगा। मेरी समझ में नूतन युग का सबसे

बड़ा कार्य अमेरिका का विकास और उत्थान है। वास्तव में अमेरिका का विकास और उत्थान इतना उच्च, इतना विशाल और इतना आशा-प्रद है कि उसमे हमारी सूची में कम से कम एक व्यक्ति को जोड़ने का अधिकार मिलना ही चाहिए। इसलिए प्रश्न केवल यह है कि वह व्यक्ति कौन-सा है? वाशिङ्गटन या इब्राहीम लिङ्कन? यदि वाशिङ्गटन का जन्म न होता तो शायद हमको अमेरिका के इस रूप में दर्शन ही न होते। तथापि मैं वाशिङ्गटन को असली अमेरिकन नहीं कह सकता, क्योंकि उसका हृदय एक अंग्रेज़ी हृदय था। उसका स्वभाव, चाल-ढाल, आचार-विचार उसकी मातृ-भूमि इंगलैंण्ड से बहुत मिलते-जुलते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि अमेरिका को बाहर से तो बहुत से वाशिङ्गटन मिल सकते थे, किन्तु लिङ्कन को और कोई देश पैदा नहीं कर सकता था। इसीलिए मैं उन्हें पक्का अमेरिकन कहता हूँ। उनमें अमेरिकनों की सभी विशेषताओं का समावेश हुआ है। उनका सिद्धांत था कि सबको बराबर अवसर मिलना चाहिए, अर्थात् ग़रीब से ग़रीब मनुष्य के बच्चे को भी राष्ट्र का उच्च से उच्च पद प्राप्त करने में एक समान अधिकार और सुयोग होना चाहिए। उनकी यह पक्की धारणा थी कि अन्त में सदैव सत्य की विजय होती है। उनको यह विश्वास भी था कि संसार धीरे-धीरे विकास की ओर अग्रसर हो रहा है। हमारी विकट से विकट समस्याएँ काल-चक्र के अनुसार अपने आप सुलझती जाती हैं। इसलिए उनके हृदय में सदैव प्रसन्नता रहती थी। इसीलिए हमें उनके विचारों में गम्भीरता, कार्यों में स्थिरता,

वक्तृताओं में सरलता और स्वभाव में मृदुलता का अनुभव होता है। जिस मनुष्य में ये गुण हों उसको हम आदरणीय और पूजनीय न समझें तो क्या समझें? इनसे बढ़कर और दिव्य गुण कौन-से हो सकते हैं? यही कारण है कि लिङ्कन को हुए यद्यपि पचास ही वर्ष के लगभग हुए हैं, तथापि उन्होंने न केवल अमेरिकनों, वरन् संसार भर के मनुष्यों के हृदयों में एक उच्च और स्थायी आसन ग्रहण कर लिया है। मेरी समझ में उनको इस सूची में सम्मिलित करने में किसी को भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती। वे तो स्वयम् उच्च थे ही, किन्तु उनकी उच्चता की विशेषता यह है कि उनका अमेरिका की अन्तरात्मा से घनिष्ठ संबन्ध है। लिङ्कन में इस आत्मा का जैसा विकास हुआ था वैसा अन्य अमेरिकनों में नहीं पाया जाता।

इतना कहकर वेल्स चुप हो रहे। सम्वाददाता मन ही मन उस सूची को दुहराने लगे—ईसा मसीह, गौतम बुद्ध, अरिस्टाटल, अशोक, बेकन और लिङ्कन। उसको आश्चर्य-चकित-सा देखकर वेल्स ने फिर कहा—मेरी सम्मति में मनुष्य लेने से बड़ा नहीं होता है, वरन् देने से बड़ा होता है। मैंने जिन मनुष्यों को इस सूची में रक्खा है, उन्होंने अपने जीवन में त्याग-वृत्ति का जो उदाहरण दिखाया है उसका प्रभाव आज तक लाखों और करोड़ों मनुष्यों के जीवन एवम् विचारों पर पड़ता रहा है और अनादि काल तक पड़ता रहेगा।

राष्ट्रीय महासभा और मन्त्रित्व-ग्रहण

नवीन शासन-विधान के अन्तर्गत प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों में कांग्रेस-जन मन्त्रित्व ग्रहण करें या नहीं, यदि करें तो किन शर्तों पर, इस प्रश्न को लेकर गत वर्षों के अंदर जितने तर्क-वितर्क, वाद-विवाद एवम् आलोचना-प्रत्यालोचनाएँ हुई हैं, उतनी शायद ही और किसी विषय को लेकर हुई हों। गत मार्च महीने में जब अ० भा० कांग्रेस कमेटी के दिल्ली अधिवेशन में शर्त के साथ मन्त्रित्व-ग्रहण का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, तो लोगों ने समझा कि आखिर इस जटिल एवम् चिर-विवाद-ग्रस्त प्रश्न की भी शेष मीमांसा हो गयी और मन्त्रित्व-ग्रहण के पक्षपातियों का पक्ष अब प्रशस्त हो गया। किन्तु कांग्रेस कमेटी द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव में प्रान्तीय गवर्नरों द्वारा उनके विशेषाधिकार के प्रयोग के संबंध में आश्वासन देने की जो शर्त रखी गयी थी, उस शर्त के अनुसार जब भारत के विभिन्न छः प्रान्तों में गवर्नरों ने कांग्रेस नेताओं को किसी प्रकार का आश्वासन देने से इनकार कर दिया तो अप्रत्याशित रूप में देश के सामने एक वैधानिक संकट उपस्थित हो गया और इससे मंत्रित्व-ग्रहण का प्रश्न और भी जटिल-तर हो उठा। इसके बाद गवर्नर वर्तमान शासन-विधान के अनुसार अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग करने के संबंध में किसी प्रकार का आश्वासन मन्त्रियों को दे सकता है या नहीं, इस वैधानिक प्रश्न

को लेकर बड़े-बड़े दिग्गज क़ानून-वेत्ताओं में वाग्वितण्डा आरम्भ हुई। एक ओर यह सब हो रहा था और दूसरी ओर महात्मा गांधी कांग्रेस के प्रस्ताव के वास्तविक मर्म को समझाने के लिए वक्तव्य पर वक्तव्य देने लगे। उधर भारत-सचिव और सहकारी भारत-सचिव के भी इस वैधानिक संकट पर कितने ही वक्तव्य प्रकाशित हुए। इन सब उत्तर-प्रत्युत्तरों से मूल समस्या के समाधान का पथ प्रशस्त नहीं हुआ और स्थिति की जटिलता ज्यों की त्यों बनी रही। महात्मा गांधी ने कांग्रेस के प्रस्ताव की व्याख्या करते-करते अपनी ओर से अन्तिम मांग यह रखी कि गवर्नर और उनके मन्त्रि मण्डल के बीच मतभेद उपस्थित होने पर गवर्नर मंत्रियों से पद-त्याग की मांग पेश करें। वैधानिक संकट को लेकर अब तक जितने उत्तर-प्रत्युत्तर हुए थे, उनमें वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने मौनावलम्बन ही किया था। किन्तु अन्ततः आपका भी मौन भंग हुआ और आपने वैधानिक संकट तथा कांग्रेस के प्रस्ताव और महात्मा गांधी की व्याख्याओं पर विचार एवम् विश्लेषण करते हुए एक सुदीर्घ भाषण दिया। आपके इस भाषण में यद्यपि प्रकाश्य रूप से कांग्रेस के प्रस्ताव की शर्त के अनुसार अथवा महात्मा गांधी की व्याख्याओं के अनुसार किसी प्रकार का आश्वासन देना स्वीकर नहीं किया गया था, किन्तु भाषण की श्रुतिमधुर शब्दावली, उसके विनम्र भाव तथा सुर कुछ ऐसे थे जिससे कांग्रेस नेताओं को मंत्रित्व-ग्रहण के प्रश्न पर वायसराय के इस भाषण को मद्दे नज़र रखकर एक बार फिर विचार करने की आवश्यकता हुई, और इसी उद्देश्य से

ता० ६,७,८ जुलाई को वर्धा में कांग्रेस कार्य-कारिणी-समिति की एक बैठक बुलायी गयीऔर उस बैठक में एक प्रस्ताव स्वीकृत होकर भारत के ६ प्रान्तों के कांग्रेस दलपतियों को मन्त्रिमण्डल गठित करने की अनुमति प्रदान की गयी। इस प्रकार इतने दिनों के वाद-विवाद और आलोचना-प्रत्यालोचना के बाद इस जटिल प्रश्न का कांग्रेस द्वारा अन्तिम निर्णय हुआ और इस निर्णय से हमारे देश के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में एक सर्वथा नूतन अध्याय आरम्भ होता है। इस संबंध में राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास के कुछ पिछले पृष्ठों को उलटना अप्रासंगिक नहीं होगा।

सन् १९२७ ई० में मद्रास कांग्रेस में पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। इस समय से ही कांग्रेस के प्रवीण नेताओं को इस बात का आभास मिलने लगा कि कांग्रेस में उग्रवादी दल का ज़ोर क्रमशः बढ़ रहा है। इसलिए १९२८ ई० के कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन में ब्रिटिश सरकार को सर्वदल सम्मेलन द्वारा रचित शासन-विधान (नेहरू-रिपोर्ट) स्वीकार करने के लिए एक वर्ष का समय दिया गया। यदि १९२९ ई० की ३१ वीं दिसंबर तक ब्रिटिश पार्लामेण्ट इस शासन-विधान को ग्रहण नहीं करेगी, तो काँग्रेस पूर्ण स्वाधीनता के लिए संग्राम आरंभ करेगी।

किन्तु १९२९ का साल ज्यों-ज्यों बीतता गया, त्यों-त्यों ब्रिटिश सरकार द्वारा नेहरू-रिपोर्ट के स्वीकार किये जाने के लक्षण दूर होते गये। १९२९ के मई महीने में बाल्डविन मंत्रि मण्डल का पतन हुआ

और मज़दूर नेता मि० मेकडोनाल्ड ने नूतन मंत्रिमंडल का गठन किया। किन्तु इससे भारत के प्रति ब्रिटिश सरकार के रुख़ में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इसी समय बड़े लाट लार्ड इर्विन विलायत गये और कुछ लोगों को यह आशा हुई कि भारतीय समस्या के समाधान के संबन्ध में ब्रिटिश सरकार के अधिकारियों से परामर्श करके वे समझौते का कोई मार्ग निकालेंगे, किन्तु कुछ नहीं हुआ। १९२९ की ३१ वीं दिसंबर को रात में बारह बजे के बाद लाहौर काँग्रेस में पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। १९३० ई० की दूसरी मार्च को महात्मा गांधी ने वायसराय के पास एक अंतिम पत्र (Ultimatum) भेजा। इसके उत्तर में सरकार ने स्पष्ट रूप से यह जता दिया कि वह क़ानून भंग आन्दोलन को किसी भी रूप में सहन नहीं कर सकती। १९३० की १२ वीं मार्च को महात्मा गांधी ने अपने ७९ अनुयायियों के साथ डांडी यात्रा की और वहाँ नमक क़ानून भंग करके सविनय-क़ानून-भंग-आंदोलन का आरंभ किया। इसके बाद से यह आंदोलन सारे देश में विद्युत्-गति से व्यापक होने लगा और तीन मास के अन्दर ही लगभग ५०,००० सत्याग्रही स्त्री-पुरुष कारादंड से दंडित हुए। फिर समझौते की चेष्टा होने लगी। महात्मा गांधी ने श्रीयुत जयकर के सामने समझौते की ग्यारह शर्तें रखीं। उन शर्तों को देखकर लार्ड इर्विन ने कहा—"इनके आधार पर समझौते की बातचीत चलाना असंभव है।"

इधर शासन-विधान की रचना के लिए लंदन में प्रथम गोलमेज़

कान्फ्रेन्स की जो बैठक बुलायी गयी थी, वह व्यर्थ हुई। विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिनिधि वाद-विवाद और हिस्सा-बाँट के दावे को ही लेकर इस प्रकार आत्म-कलह में व्यस्त रहे कि उनके बीच किसी प्रकार का समझौता होना असंभव था।

इधर फिर समझौते की बातचीत चलने लगी। २५ जनवरी १९३१ को महात्मा गांधी आदि प्रमुख नेता छोड़ दिये गये। लार्ड इर्विन और महात्मा गांधी के बीच समझौता हुआ और १९३१ के करौंची काँग्रेस के अधिवेशन में गांधी-इर्विन समझौता स्वीकृत हुआ। १९३१ के अंतिम भाग में गोल-मेज़ सभा की दूसरी बैठक हुई और उसमें महात्मा गांधी भी सम्मिलित हुए। ब्रिटिश सरकार की ओर से काँग्रेस का दावा मान लेने का कोई लक्षण न देखकर और इसके लिए व्यर्थ प्रयास करने के बाद महात्मा गांधी लौट आये और फिर व्यापक रूप से सत्याग्रह आंदोलन आरंभ हुआ। गांधीजी को फिर क़ैद की सज़ा मिली। इधर आंदोलन तीव्र और मंदगति से चलने लगा। और क्रमशः शिथिल होता गया।

१९३३ ई० में पार्लमेंट की संयुक्त कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई और उसमें दलित जातियों के लिए पृथक् प्रतिनिधित्व की जो व्यवस्था की गयी थी, उसमें परिवर्तन कराने के लिए महात्मा गांधी ने अनशन किया। इसके फलस्वरूप पूना में दलित वर्णों के हिन्दू नेताओं के साथ सवर्णों का एक समझौता हुआ, जिसे ब्रिटिश सरकार ने स्वीकार कर लिया। इस प्रसंग में एक बात उल्लेखनीय है कि प्रस्तावित

शासन-विधान के अंश-विशेष में परिवर्तन कराने के लिए अनशन करके महात्मा गांधी ने प्रकारान्तर से शासन-विधान को मान लिया, अन्यथा जिसको संपूर्ण रूप से वर्जन करना था, उसके अंश-विशेष को परिवर्तित करने के लिए अनशन करने की क्या आवश्यकता हो सकती थी।

१९३३ ई० के मई महीने में जेल से छूटकर महात्मा गांधी ने क़ानून-भंग आन्दोलन को बंद करने की घोषणा की। इसी समय आपने राजनीतिक क्षेत्र से व्यवहारतः पृथक् होकर ग्राम्य सुधार कार्य में मनोनिवेश किया।

इस प्रकार कानून-भंग-आंदोलन का अंत होने के साथ-साथ कांग्रेस के प्रवीण नेताओं का सुर भी क्रमशः नरम होने लगा। १९३४ की पहली अप्रैल को दिल्ली में डाक्टर अन्सारी के घर पर नेताओं की एक बैठक हुई, जिसमें यह निश्चय हुआ कि स्वराज्य-दल को पुनरुज्जीवित किया जाय। यह भी निश्चय हुआ कि यह दल व्यवस्थापिका-परिषद के आसन्न निर्वाचन-संग्राम में भाग लेगा। महात्मा गांधी ने व्यवस्थापिका-परिषद में प्रवेश करने की नीति का समर्थन किया और अन्त में काँग्रेस की ओर से ही एक पार्लामेंटरी बोर्ड गठित हुआ।

१९३४ ई० में बंबई-काँग्रेस अधिवेशन में व्यवस्थापिका-परिषद के चुनाव में कांग्रेस के भाग लेने का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। समाज-तन्त्रवादियों ने मूल प्रस्ताव का विरोध किया और इसी समय से पहले के उग्रवादी दल के नूतन उग्रपन्थी दल का संघर्ष प्रत्यक्ष-रूप में बढ़ने लगा।

निर्वाचन-संग्राम में कांग्रेस को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। इस सफलता के साथ-साथ नवीन शासन-विधान के अंतर्गत प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के चुनाव में कांग्रेस के भाग लेने का प्रश्न भी उपस्थित हुआ। इसी समय कुछ लोगों ने यह प्रश्न उठाया कि कांग्रेस मंत्रित्व ग्रहण करेगी या नहीं, इस प्रश्न का निर्णय हुए बिना निर्वाचन-युद्ध में कांग्रेस का शामिल होना उचित नहीं होगा।

लखनऊ में कांग्रेस का अधिवेशन आरंभ होने के पूर्व कांग्रेस-कार्य-कारिणी-कमेटी की जो बैठक हुई, उसमें यह स्थिर हुआ कि मंत्रित्व ग्रहण का प्रश्न इस समय न उठाकर, कांग्रेस को प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों के निर्वाचन संग्राम में भाग लेना चाहिए। कार्य-कारिणी कमेटी के इस निश्चय से कांग्रेस समाजतन्त्री दल में विशेष क्षोभ का संचार हुआ। कांग्रेस के खुले अधिवेशन में श्री राजेन्द्र प्रसाद ने मंत्रित्व-ग्रहण संबंधी प्रस्ताव पर विचार किया जाना स्थगित रखने के लिए एक प्रस्ताव उपस्थित किया, जिसका सरदार शार्दूलसिंह कवीश्वर, श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय और श्री संपूर्णानंद ने विरोध किया। इस प्रस्ताव को लेकर कांग्रेस में तुमुल वाद-विवाद हुआ। सरदार शार्दूलसिंह ने अपने भाषण में कहा—"यह बात सच है कि मंत्रित्व ग्रहण करके हम पाठ्य-पुस्तकों में परिवर्तन कर सकेंगे, राष्ट्रीय झंडा उड़ा सकेंगे और स्वास्थ्य-रक्षा का कार्यक्रम पूर्ण कर सकेंगे; किन्तु अन्न-हीनों को अन्न नहीं दे सकेंगे, वस्त्र-हीनों के लिए वस्त्र की व्यवस्था नहीं कर सकेंगे। जो ये कहते हैं कि

मंत्रित्व ग्रहण करके शासन-व्यवस्था को अकार्यकारी बना डालेंगे, वे ठीक उलटा तर्क कर रहे हैं। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मंत्रित्व ग्रहण करके वे जाल में फँस जायँगे।"

श्रीयुत सत्यमूर्ति ने श्री राजेन्द्रप्रसाद के प्रस्ताव का समर्थन करते हुए कहा—'मंत्रित्व-ग्रहण' यह बात न कहकर 'शत्रु से क्षमता-ग्रहण' यह बात यदि कहें, तभी हमारा वास्तविक अभिप्राय प्रकट होता है। विप्लवी मनोभाव के संबंध में बहुत-सी बातें कही गयी हैं; किन्तु मैं देखता हूँ कि गत १५ वर्षों के अंदर एकमात्र महात्मा गांधी ही विप्लव की सृष्टि करने में समर्थ हुए हैं। आज जो लोग कांग्रेस कार्य-कारिणी-कमेटी के सदस्य हैं, उन्होंने प्रशंसनीय रूप में विप्लव आंदोलन को परिचालना की है। मैं पूछता हूँ कि कांग्रेस के जो सदस्य यहाँ उपस्थित हैं, उनमें से यदि ५० जन मंत्रित्व ग्रहण करेंगे, तो इससे कांग्रेस की मर्यादा बढ़ेगी या घटेगी?

इसी समय एक सदस्य ने ज़ोर से चिल्लाकर कहा—"मि० तांबे और मि० राघवेन्द्रराव की बात क्या भूल गये?" श्री सत्य-मूर्ति ने कहा—"मैं उन्हें नहीं जानता। कांग्रेस जनों में से यदि आप विश्वास-योग्य ५० व्यक्तियों को मन्त्री पद के लिए चुन नहीं सकते, तो ऐसी अवस्था में इस 'दूकान' को बन्द कर देना ही आपका कर्तव्य है।" इस वाद-विवाद के बाद श्री राजेन्द्रप्रसाद का प्रस्ताव बहुत अधिक वोटों से पास हो गया।

इसके बाद कांग्रेस प्रत्येक प्रान्त में शासन-विधान को ध्वंस

करने का संकल्प ग्रहण करके निर्वाचन-संग्राम में उत्तीर्ण हुई। इधर फैजपुर कांग्रेस का समय सन्निकट होने लगा। समाजतन्त्रवादी दल तथा मंत्रित्व-ग्रहण के विरोधी अन्य कांग्रेस सज्जन मंत्रित्व-ग्रहण के विरुद्ध प्रचार करने लगे। १९३६ के दिसम्बर में फैजपुर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। श्री शार्दूलसिंह ने मन्त्रित्व के संबंध में निम्न-लिखित प्रस्ताव उपस्थित किया—

"किसी भी अवस्था में व्यवस्थापिका परिषदों के कांग्रेसी सदस्य मंत्रित्व ग्रहण नहीं करेंगे।" कार्यकारिणी कमेटी की ओर से नवनिर्वाचित अखिल भारत कांग्रेस कमेटी के ऊपर मंत्रित्व-सम्बन्धी प्रश्न की मीमांसा का भार सौंप देने का प्रस्ताव उपस्थित किया गया। लखनऊ के समान फैजपुर-कांग्रेस में भी इस प्रश्न को लेकर काफ़ी वाद-विवाद हुआ। श्रीयुत राजेन्द्रप्रसाद ने कार्य-कारिणी कमेटी का प्रस्ताव उपस्थित करते हुए कहा :—"मन्त्रित्व ग्रहण करके शासन-विधान को ध्वंस किया जा सकता है या नहीं, इस विषय को लेकर मतभेद है। मेरा अपना विचार यह है कि किसी-किसी क्षेत्र में मंत्रित्व-ग्रहण करके ही शासन-विधान को ध्वंस किया जा सकता है। यदि यह देखा जायगा कि मन्त्रित्व स्वीकार करके शासन-विधान को ध्वंस करना संभव नहीं है, तो ऐसी अवस्था में हम मंत्रित्व-वर्जन के प्रस्ताव को ही स्वीकार करेंगे।"

श्रीयुत सत्यमूर्ति ने कहा—"मंत्रित्व के मोह में पड़कर हम लोग प्रस्ताव का समर्थन नहीं कर रहे हैं। हम लोग प्रगति-विरोधी-दल

को बाधा प्रदान करना चाहते हैं। सरकार के हाथ की कठ-पुतली बनकर यह दल देश का घोर अनिष्ट-साधन कर रहा है। यह अनिष्ट-साधन नहीं हो सके, इसीलिए हम मंत्रित्व ग्रहण करना चाहते हैं।"

फैजपुर में मंत्रित्व-ग्रहण-पक्षपाती दल की जय हुई और अखिल भारत कांग्रेस कमेटी के ऊपर मंत्रित्व के प्रश्न की मीमांसा का भार समर्पित हुआ।

प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों के निर्वाचन का फल प्रकाशित हुआ और ६ प्रान्तों में कांग्रेस-दल के सदस्यों को अजेय बहुमत प्राप्त हुआ। अन्य तीन प्रान्तों में भी एक दल के रूप में काँग्रेसी सदस्यों की संख्या ही सब से अधिक रही। इसके बाद १९३७ के मार्च महीने में मंत्रित्व-ग्रहण-संबंधी प्रश्न का अन्तिम निर्णय करने के लिए दिल्ली में अखिल भारतवर्षीय काँग्रेस कमेटी की बैठक हुई। इससे पूर्व जब काँग्रेस कार्य-कारिणी कमेटी की बैठक शुरू हुई, तो देखा गया कि मंत्रित्व के संबंध में तीन प्रकार के मत पाये जाते हैं। एक दल बिना किसी शर्त के मंत्रित्व-ग्रहण का पक्षपाती था। दूसरा दल कुछ शर्त के साथ मंत्रित्व ग्रहण करना चाहता था और तीसरा दल किसी भी अवस्था में मंत्रित्व ग्रहण का पक्षपाती नहीं था। इस प्रकार के मतविरोधों को देखकर महात्मा गांधी की मध्यस्थता का आश्रय ग्रहण किया गया और महात्मा गांधी ने विभिन्न दलों को संतुष्ट रखने के लिए एक प्रस्ताव की रचना की, जिसमें कहा गया था कि कांग्रेसी

मंत्रिगण जब तक शासन-विधान के अंतर्गत कार्य करते रहेंगे, (act within constitution) तब तक गवर्नर अपने विशेष अधिकारों एवम् क्षमताओं का उपयोग नहीं करेंगे, इस प्रकार का वचन प्रान्तीय गवर्नरों द्वारा मिलने पर ही कांग्रेस-दल उन प्रान्तों में, जहाँ उनका बहुमत है, मंत्रि मंडल का गठन करेंगे। अवश्य ही इस प्रस्ताव में भी मंत्रित्व-ग्रहण का अभिप्राय शासन-विधान का ध्वंस करना बताया गया था।

इस प्रस्ताव की व्याख्या करते हुए सुप्रसिद्ध डाक्टर सीतारामय्या ने कहा था—"प्रस्ताव का आरंभ आतिशबाजी के समान और उसकी समाप्ति जली हुई आतिशबाजी की लकड़ी के समान है।" अ० भा० कांग्रेस कमेटी में कार्य-कारिणी कमेटी का जो प्रस्ताव कुछ परिवर्तन के साथ स्वीकृत हुआ था, उसमें कहा गया था—"व्यवस्थापिका परिषद के कांग्रेस दल के नेता जब तक इस विषय में निश्चित नहीं होंगे और प्रकाश्य रूप से घोषणा नहीं करेंगे कि गवर्नर मंत्रियों के शासन-विधान-सम्मत कार्यों में अपने विशेष अधिकारों एवम् क्षमताओं का प्रयोग करके हस्तक्षेप नहीं करेंगे और सब कामों में मंत्रियों के परामर्श की उपेक्षा नहीं करेंगे—तब तक कांग्रेस सदस्य मंत्रित्व ग्रहण नहीं कर सकेंगे।"

इसके बाद बम्बई, मद्रास, मध्य-प्रदेश, संयुक्त प्रान्त, बिहार और उड़ीसा इन छः प्रान्तों के कांग्रेस-दल के नेता, अपने-अपने प्रान्त के गवर्नर द्वारा बुलाये जाने पर, मंत्रि मण्डल गठित करने के संबन्ध में उनसे मिले। किसी भी प्रकार का गवर्नरों द्वारा

आश्वासन न मिलने पर जिस प्रकार कामचलाऊ मन्त्रि मण्डलों की स्थापना की गयी, इससे पाठक भली भाँति परिचित हैं। फिर कुछ दिनों बाद 'पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त' और आसाम प्रान्तों में भी कांग्रेसी मंत्रि मंडल क़ायम हो सका। अर्थात् कुछ ११ प्रान्तों में से आठ प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रियों का शासन स्थापित हो गया।

कांग्रेसी मंत्रि मंडल क़रीब ढाई साल ही काम कर पाये थे कि यूरोप में युद्ध उठ खड़ा हुआ। पहले तो ब्रिटेन उससे अलग ही रहा। मगर धीरे-धीरे उसे भी युद्ध में सक्रिय भाग लेने के लिए बाध्य होना पड़ा। ब्रिटेन और फ्रांस एक तरफ़ और जर्मनी दूसरी तरफ़ खड़ा हुआ। फिर साम्राज्य की सारी शक्तियों को केन्द्रित कर ब्रिटिश सरकार को लड़ने की ज़रूरत महसूस हुई। ब्रिटिश सरकार ने भारतवर्ष को भी "युद्ध में प्रवृत्त" घोषित कर दिया और भारत से युद्ध-सम्बन्धी सहायता ब्रिटेन को पहुँचने लगी। काँग्रेस ने अपना विरोध प्रदर्शित किया। कार्य-कारिणी समिति की लम्बी बैठकें हुईं। और ब्रिटिश-सरकार का भारतीयों की राय लिये बिना ऐसा घोषित करना अनुचित करार दिया गया। सभी कांग्रेस प्रान्तीय असेंबलियों में इस सम्बन्ध के विरोधी प्रस्ताव पास हुए। मगर ब्रिटिश सरकार के ऊपर इसका कोई असर न हुआ। अन्त में बहुत सोच-विचार के बाद काँग्रेस ने यह निश्चय किया कि इसका तीव्र विरोध प्रकट करने के लिए काँग्रेस प्रान्तों के सभी मंत्री तुरन्त इस्तीफ़ा दे दें।

ऐसा ही हुआ। कुछ ही दिनों के अन्दर सब प्रान्तों के

कांग्रेसी मंत्रियों ने इस्तीफ़े दाख़िल कर दिये। वह घटना भी भारतीय इतिहास में स्मरणीय रहेगी।

इन ढाई वर्षों के अल्पकाल में कोई भी सरकार या संस्था देश में कोई बड़ा भारी कार्य-क्रम सफल रूप से नहीं चला सकती है। क्योंकि देश और समाज के जीवन में ढाई वर्ष का समय नहीं के बराबर है। कांग्रेस के घोषणा-पत्र के अनुसार देश को कांग्रेस मंत्रिमंडलों से बड़ी उम्मीद थी। मगर देश की आशाएँ पूरी नहीं हुईं। फिर भी इस अल्पकाल में कांग्रेसी सरकार ने जो कार्य किया उसमें बहुत-सी उल्लेखनीय बातें हैं।

गांधीजी जब से राजनीतिक मैदान में आये तभी से मद्य-निषेध पर ज़ोर देते रहे। अतएव सबसे पहले कांग्रेसी सरकारों ने मद्य-निषेध संबन्धी व्यवस्था की। लाखों रुपये का नुकसान सह-कर सब कांग्रेसी प्रान्तों ने शराबबन्दी क़ानून बनाये और कई ज़िलों में शराब पर रोक लगा दी गयी। जिन-जिन स्थानों पर शराबबंदी हुई उन-उन जगहों की ग़रीब प्रजा सचमुच कांग्रेस को दुआ दे रही है। मगर एक साथ ही सारे प्रान्त में शराबबन्दी न हो सकी। क्योंकि यह बड़ा भारी आर्थिक मसला था।

काँग्रेसी मिनिस्टरों ने दूसरा काम जो किया वह था ग़रीब किसानों को ऋणरूपी राक्षस से भय-मुक्त करना। महाजन लोग मनमाना सूद लेकर ग़रीबों का ख़ून चूस रहे थे। उसे क़ानून बनाकर रोकने की व्यवस्था प्रायः सभी कांग्रेसी सरकारों ने की।

बारडोली, खेड़ा वगैरह में जब सत्याग्रह हुए थे तो उसमें भाग लेनेवाले बहुत से किसानों की ज़मीनें ज़ब्त हो गयी थीं। बम्बई की कांग्रेस सरकार ने वह सब लौटा दिया। इतना ही नहीं, उस समय जो उन किसानों से जुर्माने वसूल किये थे—वे भी लौटा दिये गये।

उसी तरह मद्रास सरकार ने बड़ी धीरता से राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानी को स्कूलों के निचले तीन दर्जों में अनिवार्य कर दिया। बाद को बम्बई सरकार ने भी उस पर अमल किया।

यू. पी. (संयुक्त प्रान्त) की कांग्रेसी सरकार ने भी बड़े विरोधों का सामना करके टेनेन्सी-बिल पास किया—जिसमें यू. पी. के किसानों का ज़मीन पर मौरूसी हक़ क़ायम हुआ। यू. पी. के किसानों के वास्ते यह वरदान ही था।

इसी तरह और भी उल्लेखनीय कार्य हुए। देशी व्यापार और उद्योग-धन्धों को बड़ी प्रगति मिली। शिक्षण संस्थाओं का भी दृष्टिकोण बदला। सबसे बड़ी बात यह हुई कि जिन लोगों के मन में यह बात जमी हुई थी कि कांग्रेसवाले सिर्फ़ झगड़ सकते हैं, विरोध कर सकते हैं, मगर 'सरकार' नहीं चला सकते, उनका यह विश्वास हिल गया। उन लोगों ने देखा कि कांग्रेस दल के लोग झगड़ सकते हैं तो सरकार की गद्दी पर बैठकर उसे चला भी सकते हैं।

यह और वह

श्री रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी

['बेनीपुरी' जी ज़िला मुजफ़्फ़रपुर (बिहार) के निवासी हैं। युवक हैं। उम्र ४० के क़रीब है। 'बालक' 'युवक' 'योगी' 'जनता' आदि पत्रिकाओं का सफलतापूर्वक सम्पादन कर चुके हैं। ये बाल-साहित्य के भी अच्छे लेखक हैं।

आपकी लेखनी में जोश है, जवानी है, करुणा है और क्रांति है। आपकी भाषा बड़ी मंजी हुई सुन्दर होती हैं। आप दलितों, किसानों, मज़दूरों यानी शोषितों के लेखक हैं—उनके ज़बर्दस्त वकील हैं। 'यह और वह' भी आपकी जोशीली क़लम से निकली हुई कहानी है। इसे कहानी न कहकर कहानी के रूप में एक सच्ची घटना या बढ़िया 'स्केच' कहें तो अच्छा होगा।]

हज़ारीबाग रोड स्टेशन। चार बाबू क़ैदी वेटिंग रूम से निकलकर प्लैटफ़ार्म पर हवाख़ोरी कर रहे हैं।

दिन भर की कड़ी धूप के बाद यह शाम कैसी अच्छी मालूम हो रही है! चारों ओर धूसर पहाड़ियाँ। दूर पर एक पहाड़ी को सुशोभित करता पारसनाथ का वह मंदिर! पश्चिम में सूर्य अपना बचा-खुचा सोना बाँटकर, हँसता हुआ विश्रामागार को जा रहा है। पूरब में चतुर्दशी का चाँद चाँदी का अपना थैला लिये, मानों दान के उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में है—भला इस गोधूली बेला में भी कोई पुण्य-कर्म किया जाता है?

रह-रहकर हवा का एक शीतल झोंका दिन भर की गर्मी को

भुलाने की चेष्टा करता हुआ सन्-सन् करके निकल जाता है कि इतने में ही एक बालिस-ट्रेन (Ballast train) प्लैटफार्म पर आ लगती है।

खुले डब्बों की एक लंबी क़तार! डब्बों में गिट्टियाँ भरीं। गिट्टियों पर कुछ आदमी बैठे, अपने हथौड़े चलाये जा रहे हैं। कुछ लोहे के चूल्हे में कोयला रख उसे धधकाने की चेष्टा में हैं—धुआँ-धुआँ हो रहा है! कुछ, गिट्टियों पर बड़े पत्थर का तकिया किये सोये हुए हैं, उनकी नाक की 'सर-सों' आवाज़ साफ़ सुनायी पड़ती है। उनके सिरहाने अधसूखे पत्तोंवाली डाल हिकमत से खड़ी की हुई है। मालूम होता है, कुछ पहले धूप से बचाव के लिए उन्होंने यह तरकीब की थी। कुछ खड़े होकर स्टेशन की ओर देख रहे हैं। उनमें कुछ के ध्यान को तो इन बाबू क़ैदियों की ओर जाना ही था।

यह बबुआना वेश और पुलिस की निगरानी में? एक अपने डब्बे से कूदकर बाबू क़ैदियों के नज़दीक आता है—शायद इस अजीबो-ग़रीब जानवर की अच्छी तरह पहचान रखने के लिए!

'तुम्हें कितनी मज़दूरी मिलती है, भाई।'

'भाई'—वह पूछनेवाले बाबू क़ैदी को सिर से पाँव तक देखता है! 'भाई'—इस अपरिचित शब्द से जैसे वह घबरा जाता है।

उसे जिन शब्दों से आज तक बाबुओं ने पुकारा, उनमें यह शब्द तो नहीं था!

'मैं तुम्हीं से पूछता हूँ दोस्त! बोलते क्यों नहीं?' पहले

भाई, अब दोस्त। हिचकिचाते हुए उसने कहा—'चार आने'। 'और काम कब से कब तक करते हो?' इस फ़ज़ूल सवाल का क्या अर्थ? उसकी घबराहट बढ़ती मालूम होती है।

'यही—भोर से शाम तक।'

'दिन-भर में छुट्टी नहीं मिलती?'

'बीच में खाने के लिए एक घंटे की।'

'अच्छा, तुम्हारे घर में कितने आदमी हैं?'

'पाँच—माँ, मैं, मेरी स्त्री, दो बच्चे।'

'दो बच्चे?'

'जी हाँ।'

'बाप मर चुके?'

उसने सिर हिलाकर 'हाँ' भरी।

'चार आने में पाँच प्राणियों का गुज़र कैसे चलता है?' अब तो उसकी घबराहट अंतिम छोर पर पहुँच चुकी थी; लेकिन इसी समय इंजिन ने सीटी दी—वह दौड़ता हुआ अपने डब्बे में चढ़ गया। ट्रेन चल दी। उस धुंधले प्रकाश में बाबू क़ैदी ने देखा, वह दोनों हाथों को मस्तक से छुआये उन्हें अभिवादन कर रहा है।

'ज़रा स्नान क्यों न कर लिया जाय?' एक बाबू क़ैदी ने अपने दूसरे साथी से रेल के स्टेशन पर बड़ी तेज़ी से चलते हुए पानी के नल को देखकर कहा।

झर-झर-झर—नल का पानी उसके सिर पर गिर रहा है;

लेकिन उसका दिमाग़ तो अभी तक ठण्डा नहीं होता—साफ़ नहीं होता। खड़-खड़-खड़-खड़ करती हुई वह बालिस-ट्रेन उसके दिमाग़ में कुहराम मचाये हुए है। बालिस-ट्रेन पर चलता हुआ वह हथौड़ा मानो उसके मस्तक पर तड़ातड़ पड़ रहा हो और जलता हुआ वह चूल्हा उसमें भट्ठी फूँक रहा हो। गिट्टी पर पत्थर का तकिया लगाये सोये हुए उस मज़दूर की नाक से निकली आवाज़ साँय-साँय कर उसमें भाथी चला रही है और सबसे बढ़कर उस नौजवान की आकृति, उसकी चार आने मज़दूरी, फिर पाँच प्राणियों का गुज़र और अन्त में उसका वह प्रेमपूर्ण अभिवादन! एक साथ ही धू-धू, हू-हू! चिता भी जल रही है, तूफ़ान भी चल रहा है। भला ऐसे दिमाग़ को पानी के ये फुहारे क्या फ़ायदा पहुँचा सकते थे?

इसी समय प्लैटफार्म के नीचे। शंटिंग की लाइन पर, रेल का एक डब्बा जगमगा उठा।

उस जगमग में उसके भीतर के दृश्य साफ़ नज़र आ रहे हैं। एक सज्जन—नहीं वह साहब कहलाना ज़्यादा पसंद करेंगे।

तो, एक साहब कुर्सी पर बैठे हैं। तुरंत-तुरंत गुस्ल-खाने से निकले हैं। बिजली की रोशनी में उनके भीगे केश पर भी बूँदें कैसी चमक रही हैं, जैसे हरी घास पर ओस के कण, जिन्हें सूर्य-किरणों ने रंग-बिरंगा बना दिया हो। बड़े आइने के सामने सोफियाने ब्रश से अपने बाल को सम्हाल रहे हैं। किन्तु बिजली के पंखे की हवा से उड़-उड़कर वे मुलायम बाल बार-बार उनके चेहरे

पर लटक आते हैं। मालूम होता है, बालों का कौतुक उन्हें भी पसंद है—बार-बार ब्रश फेरते और बीच-बीच में ठहर-ठहरकर उनके बिखरने की प्रतीक्षा करते हैं। फिर, कुछ उजली-उजली मक्खन सी चीज़ निकालकर चेहरे पर मलते हैं। कमीज़ पर कालर और नेकटाई बाँधते हैं—ऊपर से कोट पहनते हैं। तब एक बार गर्व से आइने में देखते हैं। उनकी असल और नक़ल दोनों सूरतें—यहाँ, इस नल पर से साफ़-साफ़ दिखाई पड़ रही हैं।

इतने ही में खानसामा पहुँचता है। हाथों में 'ट्रे' है और चेहरे पर एक दहशत। टेबिल पर ट्रे रख देता है। ट्रे के ऊपर से सफ़ेद कपड़े को हटाकर एक बार साहब सरसरी नज़र से सब चीज़ों को देखते हैं—फिर भौं कुछ टेढ़ी करके खानसामा की ओर ताकते हैं।

पचास गज़ के फ़ासले से भी उस बिजली की रोशनी में, खानसामा पर जो आतंक छाया, उसका पता साफ़-साफ़ चल रहा है। एक घुड़की—उसका पीछे हटना। फिर ट्रे की कुछ चीज़ों का उठाना—दृश्य-पथ से ग़ायब होना। कुछ देर के बाद लौटना, कुछ लिये हुए।

काँटे-छुरे चमक रहे हैं। बीच-बीच में छोटी-छोटी प्याली में कुछ रंगीन तरल-पदार्थ कंठ से नीचे उतारा जा रहा है।

नहानेवाले उद्विग्न हो उठता है, जैसे आँखें मूँदकर वहाँ से चल देता है। वेटिंग रूम में आता है।

"यह कौन साहब है?"

"उस सैलून में ?"

"जी हाँ।"

"रेलवे के कण्ट्रैक्टर हैं—अबरख का भी आपका बड़ा कारबार है।"

"लारी आ गयी, चलिये।"

लारी की अगली सीट पर चारों बाबू क़ैदी बैठे हैं। दारोगा-जी ड्राइवर की बग़ल में—चारों सिपाही पिछले बेंच पर। आधी-रात का सन्नाटा—उस पहाड़ी प्रदेश में यह लारी चली जा रही है। सड़क की दोनें ओर हरे-हरे दरख़्त—दूर क्षितिज की गोद में सिर रखकर सोयी सी पहाड़ियाँ, चाँदनी, समूचा दुनियाँ मानो तरल चाँदी में स्नान कर रही हो। ठण्डी पहाड़ी हवा मन-प्राण को जुड़ा रही है।

लेकिन उस समय एक का दिमाग़ इस तरह व्याकुल है, जैसे चिलचिलाती धूप में, जल से बाहर रख दी गयी मछली—

यह हैं कण्ट्रैक्टर—रेलवे कण्ट्रैक्टर—रेलवे की लाइनें बनाने, सुधारने का काम—पुल, स्टेशन भी बनवाते होंगे।

वह बालिस ट्रेन—वे कुली—इन्हीं की मातहत तो वे बेचारे काम करते होंगे।

ये कण्ट्रैक्टर साहब—यह कौन-सा काम करते हैं? देख-भाल? झूठीबात—देखभाल तो इनके दूसरे नौकर करते होंगे, जिन्हें हम ओवरसियर कहें, इंजीनियर कहें।

तब? तब, इनके रुपये हैं, उन रुपयों से इन मज़दूरों को—

नहीं, उनकी मज़दूरी को ही कह लीजिये—खरीदते हैं—उनसे मनमाने काम लेते हैं। और उनके काम पर मनमाने दाम वसूल करते हैं।

यों मेहनत किसी की, नफ़ा किसी का!

और अबरख का कारबार होता है?—क्या कारबार?

ऐसा ही....या कोई खान होगी हज़रत की। कुछ कुली, कुछ कारीगर मरते होंगे और उनका यह श्राद्ध रचा रहे हैं।

लेकिन एक बात तो सोचनी होगी ही—आख़िर रुपये के लिए कुछ तो मिलना ही चाहिए।

लेकिन यह रुपया आया कैसे? इसी तरह कभी न कभी किसी को मूँडकर आया होगा। नफ़े के रूप में नहीं सही, किराये के रूप में, सूद के रूप में, मालगुज़ारी के रूप में।

तमाशा है, जो मेहनत करे वह उस बालिस-ट्रेन में....उस खान के धूसर में—

और जो.....जो.....

इतने ही में दारोगाजी बोल उठे—वाह हज़ारीबाग की आब-हवा भी इस गर्मी में क्या चीज़ है, न्यामत ही समझिये—उन्होंने पीछे की ओर देखा। वह मानो, इन बाबू क़दियों पर सहानुभूति और धैर्य की एक साथ वर्षा करना चाहते थे। इन भले-मानुसों पर उन्हें थोड़ी रहम तो ज़रूर आती होगी, जो इतना पढ़-लिखकर इस तरह बार-बार जेलों में जाने के कारनामे करते हैं। पागलों पर भी तो रहम होती ही है।

किन्तु, अफ़सोस....उनको इस सहानुभूति-प्रदर्शन, इस धैर्य-दान पर दाद कौन दे? बाबू क़ैदियों में से तीन की आँखें बन्द थीं—न जाने किस स्वप्न-लोक में विचर रहे थे।

और चौथा तो जागा था, ज़रूर। लेकिन उसके कान, उसकी आँखें, उसकी सभी इन्द्रियाँ, जाने कहाँ थीं? अपने विचार-सूत्र को जारी रखते हुए, वह बड़बड़ा उठा—

और इतने पर भी लोग कहते हैं, 'तुम क्या साम्यवाद, साम्यवाद चिल्ला रहे हो'।

गुरु गोविन्दसिंह

पं. नन्दकुमार देव शर्मा

[इसके लेखक पं. नन्दकुमार देव शर्मा हिन्दी के प्रसिद्ध जीवन-चरित्र-लेखक हैं। आपने अपनी सारी साधना जीवनियाँ लिखने में लगा दी है। आपकी लिखी जीवनियाँ प्रामाणिक और सुन्दर बनी हैं। भाषा आपकी सुन्दर और सरल है।]

गुरु गोविन्दसिंह अपने पिता की मृत्यु का समाचार पाकर अत्यन्त दुखी हुए, पर वे इस दुख से अधीर नहीं हुए। जिस भाँति स्काटलैंड के महारथी वालेस ने अपनी प्राण-प्यारी पत्नी के क़तल होने पर अपने शत्रुओं को काटने की भीष्म-प्रतिज्ञा की थी, उसी भाँति गुरु गोविन्दसिंह ने बालक होने पर भी अपने पिता की दुखदायिनी मृत्यु से शोकाकुल होकर कठिन व्रत धारण किया।

उन्होंने अपने सिक्खों को इकट्ठा कर तेजस्वी शब्दों में कहा—"भाइयो! हम सब यह दारुण समाचार सुन चुके हैं कि पिता दिल्ली में मारे गये हैं। अब मैं इस संसार में अकेला हूँ। मेरी आन्तरिक इच्छा पिता की मृत्यु का बदला लेने की है। क्या तुममें से कोई ऐसा वीर है जो पिता के शव को दिल्ली से यहाँ ले आवे?"

गुरु गोविन्दसिंह के इन जोशीले शब्दों को सुनकर एक सिक्ख दिल्ली पहुँचा और गुरु के शव को पञ्जाब ले आया। सिक्खों ने गुरु तेग़ बहादुर के मस्तक का ख़ूब सत्कार किया, फिर धूम-धाम से अन्त्येष्टि क्रिया की। यद्यपि इस समय गुरु गोविन्दसिंह की अवस्था १४-१५ वर्ष की थी, तथापि उन्होंने बदला लेने की दृढ़ प्रतिज्ञा की। सांसारिक विषय-वासना से चित को हटाकर वे अपने कार्य के साधन में जुट गये। यमुना-तट पर उन्होंने तप करना आरम्भ किया। वे अस्त्र-शस्त्र-विद्या में निपुण होने की चेष्टा करते रहे। फ़ारसी भाषा के सीखने तथा हिन्दू जाति के इतिहास के मनन करने में वे अपना अधिक समय बिताने लगे।

महात्मा गुरु गोविन्दसिंह का स्वार्थ-त्याग और आत्म-त्याग अपूर्व था। वे दृढ़ता, स्वार्थ-त्याग, आत्म-त्याग और वीरता आदि सब गुणों की खान थे। मेज़िनी की भाँति सदैव उनको, चाहे जैसी परिस्थिति क्यों न हो, अपने कर्तव्य-पालन की चिन्ता रहती थी। गैरीबाल्डी और महाराणा प्रतापसिंह की भाँति वे अपनी प्रतिज्ञा से टलनेवाले नहीं थे। वालेस और शिवाजी की भाँति वे निडर थे। शस्त्र

और शास्त्र इन दोनों में योग्यता और निपुणता प्राप्त हो जाने पर उन्होंने अपने कर्तव्य की पूर्ति करना आरम्भ किया था। कहने का सारांश यह है कि वे क्रियाशील और विचारशील दोनों थे। विद्या और तप की समाप्ति के पश्चात् उन्होंने सिक्खों को बाबा नानक के धर्म-सम्बन्धी गहन, गम्भीर विचार समझाना आरम्भ कर दिया था।

गुरु अर्जुन और गुरु हरगोविन्द दोनों की इच्छा थी कि सिक्खों में क्षात्र-धर्म का विस्तार हो, सिक्ख जाति युद्ध-सम्बन्धी विषयों की पूरी जानकारी प्राप्त करे, सिक्ख जाति सैनिक जाति हो जावे। परन्तु उन दोनों गुरुओं को अपने महान उद्देश्य में पूरी सफलता प्राप्त नहीं हुई। उक्त दोनों गुरु जिस ढंग से सिक्ख-समाज का सैनिक संगठन करना चाहते थे उसमें वे सफल मनोरथ न हुए। किन्तु महात्मा गोविन्दसिंह के चारित्र्य-बल से और गुरु तेग़ बहादुर की मृत्यु से सिक्खों में कुछ ऐसी विलक्षण, विद्युत-शक्ति सञ्चारित हो गयी थी जिससे सिक्ख महाबली हो गये थे। उनके महामन्त्र से सिक्ख मण्डली सजीव हो उठी थी, जिससे वह महापराक्रमी मुसलमानी साम्राज्य की शक्ति का उच्छेद करने में समर्थ हुई।

हमारी समझ में इसके दो मुख्य कारण थे। एक तो उनके पिता की शोचनीय मृत्यु हुई थी; दूसरा, उन्होंने कठिन तपस्या की थी। यदि वे संसार के तुच्छ सुखों में फँसे रहते तो इसमें सन्देह है कि वे अपने महाव्रत में सफल होते या नहीं। सांसारिक ऐश्वर्य उनको अपने कठिन व्रत से हटा नहीं सका। गृहस्थ होने पर भी वे

पूरे संन्यासी थे। जिस भाँति महाराणा प्रतापसिंह ने चित्तौर के उद्धार के लिए अपने समस्त सुखों पर लात मार दी थी, उसी भाँति गुरु गोविन्दसिंह ने अपने देश की दुर्दशा के कारण अपनी सब सम्पत्ति सतलज नदी में फेंक दी।

एक समय गुरु गोविन्दसिंह के एक भक्त सिक्ख ने सिन्ध देश से बहुमूल्य बड़े सुन्दर कंगन लाकर दिये। पहले तो गुरु गोविन्द-सिंह ने उन दोनों कंगनों को लेना स्वीकार ही नहीं किया; परन्तु अन्त में सिक्खों के विशेष आग्रह करने पर वे उन कंगनों को हाथ में पहनने को लाचार हुए। किन्तु थोड़ी देर के बाद ही उन्होंने पास ही नदी में एक कंगन फेंक दिया। शिष्य ने गुरु के हाथ को कंगन से सूना देखकर उसका कारण पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया, वह जल में गिर पड़ा है। इस पर शिष्य ने एक ग़ोताख़ोर को बुलाया और कहा कि यदि उस कंगन को निकाल लाओगे तो पाँच सौ रुपया इनाम दूँगा। ग़ोताख़ोर से इतना कहकर गुरु से बड़ी भक्तिपूर्वक उसने निवेदन किया कि नदी में किस स्थान पर वह कंगन गिरा है, कृपया यह बात ग़ोताख़ोर को बतला दीजिये। गुरु अपने शिष्य के इस अनुरोध से शिष्य और ग़ोताख़ोर के साथ नदीतट पर गये। वहाँ पर बड़े शांत भाव से जल की ओर देखते हुए* दूसरा कंगन भी हाथ से उतारकर उन्होंने फेंक दिया और कहा कि यहीं पर गिरा होगा।

---

* M. C. Gregor ने एक-एक कंगन का मूल्य पचीस, पचीस हज़ार रुपया लिखा है।

शिष्य को गुरु का ऐसा वैराग्य देखकर नवीन विचार स्फुरित हुए। उसने अपने सब प्रकार के भोग-विलासों को परित्याग कर सादगी से जीवन व्यतीत करना आरम्भ कर दिया। गुरु के जीवन की ऐसी अनेक घटनाएँ हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि उनके चरित्र का बल ऐसा था कि जिससे लोग उनके बिना दाम के गुलाम हो जाते थे। गुरु गोविन्दसिंह का हुक्म सिक्खों में विधाता की लकीर के समान था। जो कुछ वे आज्ञा करते थे, वह तत्काल पूरी की जाती थी।

पाठक यह न समझें कि सिक्ख लोग भय अथवा अन्य किसी दबाव से गुरु की आज्ञा का पालन करते थे। नहीं, सिक्खों की गुरु गोविन्दसिंह के प्रति ऐसी ही आन्तरिक भक्ति थी। जिस समय वे अपने सिक्खों से कुछ कहते थे, उसको उस समय ही बिना किसी संकोच के सिक्ख लोग पालन करने को तैयार हो जाते थे।

सिक्खों में गुरु गोविन्दसिंह के प्रति कैसी भक्ति थी, इसका परिचय पाठकों को इस घटना से मिलेगा। दाला नामक एक व्यक्ति, जिसके यहाँ बहुत से बहादुर सिपाही नौकर थे, प्रायः गुरु गोविन्दसिंह से बड़ी शेखी से कहा करता था—"यदि कोई लड़ाई का समय आया और आज्ञा हुई तो मैं अगणित योद्धाओं के साथ युद्ध-क्षेत्र में सेवा करूँगा।" गुरु गोविन्दसिंह दाला के कथन की परीक्षा करना ही चाहते थे कि एक दिन उनके एक शिष्य ने एक तलवार, एक पिस्तौल और एक बन्दूक उनकी भेंट की। दाला भी वहीं मौजूद था। उन्होंने

उससे अपने किसी नौकर को बुलाने को कहा कि जिस पर बन्दूक का निशाना जाँचा जावे। गुरु की इस आज्ञा को सुनते ही दाला ने अपने डेरे में ऐसा नौकर ढूँढ़ा जिस पर बन्दूक का निशाना जाँचा जाय, पर कोई नहीं मिला। उसके किसी नौकर ने निशाने से मरना स्वीकार नहीं किया। अपने नौकरों में आत्मिक बल का अभाव देख दाला लज्जावश गुरु के सामने सिर झुकाकर खड़ा हो गया। उन्होंने दाला की यह दशा देखकर अपने नौकर को यह आज्ञा दी कि जो सिक्ख समीप हो उससे यह हाल कहो। नौकर ने वैसा ही किया। एक वृक्ष के नीचे दो सिक्ख अधूरी पोशाक पहने हुए बैठे थे। वे गुरुजी की आज्ञा सुनकर शीघ्र ही उनके सामने आ गये। उन दोनों में से प्रत्येक की हार्दिक इच्छा थी कि "गुरुजी का निशाना पहले मैं बनूँ?" गुरु ने कहा—"मुझे केवल एक आदमी की आवश्यकता है?" उन्होंने उत्तर दिया—"नौकर ने किसी सिक्ख के लिए आवाज़ दी थी, सो हम दोनों ने सुनी, और अब गुरुजी के चरणों में अपना प्राण समर्पण करने को तैयार हैं। इससे बढ़कर हमारा सौभाग्य क्या हो सकता है कि गुरुजी के हाथ से मारे जाकर सद्गति को प्राप्त हों।" गोविन्दसिंह को किसी के प्राण तो लेने थे ही नहीं, उन्हें तो केवल यही परीक्षा करनी थी कि कौन किसका साथ दे सकता है। बस, इतनी जाँच करके उन्होंने बन्दूक रख दी और दोनों सिक्खों को समझा-बुझाकर अलग कर दिया। सिक्खों में उनका यह प्रभाव देख कर दाला चकित हुआ और भक्ति-

पूर्वक गोविन्दसिंह के चरणों में लोट गया। इससे बढ़कर उनके उच्च चरित्र का क्या नमूना हो सकता है? ऐसी-ऐसी घटनाओं से ज्ञात होता है कि गुरु के अनुयायी गुरु को परमेश्वर का भेजा हुआ समझते थे।

गुरु गोविन्दसिंह ने हिन्दू-समाज की, विशेषतः सिक्ख-समाज की बिखरी हुई शक्तियों को सम्मिलित करने का प्रयत्न किया। कहते हैं, उन्होंने पहले कुछ अपने अनुयायियों को एक ब्राह्मण पण्डित के पास संस्कृत पढ़ने के लिए भेजा। उसने उन लोगों को ब्राह्मण न होने के कारण संस्कृत पढ़ाना स्वीकार नहीं किया। यह बात गुरु को बहुत बुरी लगी। वे सोचने लगे कि जब तक जाति-पाँति का मिथ्या अहङ्कार दूर न किया जायगा तब तक सिक्ख-समाज में एकता और राष्ट्रीय भाव उत्पन्न न होंगे। उन्होंने कहा कि सिक्ख-समाज में छुटाई-बड़ाई का ध्यान न रखना चाहिए, सब लोग समान हैं, सब भाई हैं। चारों जातियाँ समान हैं। जिस तरह चूना, कत्था, सुपारी और पान चारों के मिलने से पान स्वादिष्ट होता है, उसी तरह चारों जातियों से समाज का संगठन होता है। इस तरह उन्होंने सिक्ख-समाज में छोटे-बड़े का भाव मिटा दिया। यह उपदेश करके ही गुरु गोविन्दसिंह चुप नहीं हुए, उन्होंने सब श्रेणियों के मनुष्यों को धर्म की दीक्षा देना आरम्भ कर दिया।

सिक्ख धर्म की दीक्षा लेते समय प्रत्येक मनुष्य अमृत चखता था। एक दिन गुरु केशगढ़ पहाड़ी पर डेरा लगाये हुए पड़े थे। उन्होंने

समस्त अनुयायियों को एकत्र कर उन्हें उपदेश दिया; और उपदेश की समाप्ति पर उन्होंने अपनी तलवार निकाल ली और चिल्लाकर कहा—"यह देवी अर्थात् खड्ग मुझसे एक सिर माँगती है। क्या कोई कथन अपना सिर देवी को भेंट करने को तैयार है?" गुरु के इस कथन पर सारी सभा में सन्नाटा छा गया। किसी ने चूँ तक नहीं की, सिर्फ़ एक दयाराम नामक मनुष्य आगे बढ़ा। उसका हाथ पकड़कर गुरु अपने स्थान में ले गये जहाँ पहले से एक बकरा बँधा हुआ था। गुरु ने बीर दयाराम को डेरे में बैठा दिया और अपने हाथ से बकरे को मारकर उसके लहू में भरी हुई तलवार हाथ में लेकर वे बाहर निकल आये और तलवार को हवा में चारों ओर घुमाकर बोले—"भाइयो, देवी एक और बलिदान की इच्छा करती है।" इस पर एक और सिक्ख आगे बढ़ा। इसके बाद तीसरे, चौथे और पाँचवें सिक्ख बढ़े। गुरु अपने अनुयायियों की ऐसी दृढ़ और अभूतपूर्व भक्ति देखकर प्रसन्न हुए। वे उन पाँचों सिक्खों को जीते-जागते, स्वस्थ और प्रसन्नमुख सभा-स्थल में लाये। इस पर उपस्थित जन-मंडली को आश्चर्य हुआ। गुरुजी ने कहा कि यह बहुत अच्छा सगुन हुआ है। "ख़ालसा" की विजय निस्सन्देह होगी। वहाँ जितने सिक्ख बैठे थे वे सब गुरु की तलवार के सामने सिर न देने के लिए लज्जित हुए।

जो लोग गुरु की तलवार के सामने सिर झुकाने को तैयार हुए थे उनमें से एक खत्री था। और बाकी वे लोग थे जिनको

शूद्र कहा जाता है। पर गुरु ने उन्हें "पञ्चप्यारा" कहकर पुकारा और उस रीति के अनुसार, जो उन्होंने सिक्खों को दीक्षा देने के लिए निकाल रक्खी थी, उन्हें दीक्षा दी। गुरु ने उन सबको एक से ही अधिकार और कर्तव्य बतलाये, और नये बन्धुत्व में सम्मिलित होने के चिह्न-स्वरूप उन सबने इकट्ठे बैठकर भोजन किया। पर गुरु के विचार यहीं तक सार्वलौकिक समता के संबन्ध में नहीं थे। केवल अपने अनुयायियों के बीच की समता से ही वे सन्तुष्ट न हो सके थे। उनके सम्प्रदाय में नेता अथवा मुखिया के विशेष अधिकारों के लिए भी कोई स्थान नहीं था। उन्होंने अपने पहले "पञ्चप्यारे" शिष्यों से स्वयम् दीक्षा ली थी। इससे थोड़े दिन पीछे ही गुरु ने अपने समस्त अनुयायियों की एक महासभा की और उसमें अपने नये सिद्धान्तों को सबके सम्मुख प्रकट किया। इस भाँति उन्होंने जाति-पाँति से होनेवाले पक्षपात को मिटाने और धर्म-संबन्धी सार्वलौकिक समता को स्थापित करने की चेष्टा की। इसके अतिरिक्त उन्होंने सिक्ख-समाज का सङ्गठन करने के लिए ये आज्ञाएँ और भी की थीं—

(१) समस्त सिक्खों के नामों का अन्त एक प्रकार से होगा, जैसा अब तक होता है।

(२) सब को एक प्रकार से ही दूसरे को अभिवादन करना होगा।

(३) ग्रन्थ साहब के अतिरिक्त किसी दूसरे बाह्य पदार्थ को सिर न नवाया जायगा।

(४) सिक्खों का मुख्य तीर्थस्थान अमृतसर होगा। सब श्रेणियों के सिक्खों को—चाहे ब्राह्मण हों, चाहे अन्त्यज—अमृतसर के तालाब में स्नान करने और हरि-मंदिर में पूजा करने का अधिकार है।

(५) कोई सिक्ख कभी तम्बाकू न पीयें, सब पगड़ी बांधें और सब सदा निम्नलिखित पाँच ककार पास रक्खें—अर्थात् केश, कंघा, कृपाण, कड़ा और कच्छ।

इस भाँति गुरु ने सिक्ख-समाज में राष्ट्रभाव उत्पन्न किये थे। सिक्ख-समाज को एकता के सूत्र में आबद्ध करके, गुरु देश के शत्रुओं का समूल उच्छेद करने का उपाय सोचने लगे। पहले उन्होंने पहाड़ी स्थानों पर दो-तीन क़िले बनवाये, फिर उन्होंने अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने की ठानी। इस समय सहस्रों व्यक्ति गुरु के साथ समर-क्षेत्र में जाने और उनकी पताका के नीचे मरने में अपना परम सौभाग्य समझते थे। उन्होंने पाँच सौ पठान नौकर रख लिये थे, जो गुरु की घुड़सवार-सेना का एक भाग बन गये थे।

पहले गुरु ने कई पहाड़ी राजाओं को एक सम्मिलित सेना से परास्त करके उनके गर्व को चूर्ण किया। तब पहाड़ी राजाओं ने गुरु से सन्धि कर ली और गुरु की शक्ति के भरोसे उन्होंने निष्क्रिय प्रतिरोध करना प्रारम्भ कर दिया और सम्राट की सेवा में अपना वार्षिक-कर भेजना बंद कर दिया। इस समय औरंगज़ेब दक्षिण के युद्ध में व्यस्त था। इस कारण उसने कई वर्ष तक किसी राजा के साथ

झगड़ा नहीं किया। किन्तु दक्षिण से लौटते ही औरंगज़ेब ने अपने कई सरदारों के अधीन एक बहुत बड़ी सेना राजाओं से पिछले वर्षों का कर उगाहने के लिए भेजी। 'नादौन' के निकट बादशाही सेना को राजाओं ने ख़ालसा सेना की सहायता से परास्त कर दिया। इस पराजय से काँगड़ा के शासक दिलावरख़ाँ को बड़ा क्रोध आया। उसने स्वयम् एक बड़ी सेना लेकर राजाओं पर आक्रमण किया और पुत्र रुस्तमख़ाँ को, बहुत बड़ी सेना के साथ, राजाओं की सहायता करने के अपराध में गुरु का दमन करने के लिए भेजा। रुस्तमख़ाँ आनन्दपुर के बाहर डेरे लगाये पड़ा था। एक रात्रि को अत्यन्त वेग के साथ वर्षा हुई और आसपास के नालों में जल इतना चढ़ आया कि शाही सेना के बहुत से सैनिक बह गये। इस कारण रुस्तमख़ाँ को शीघ्रता से लौटना पड़ा। जब औरंगज़ेब ने ये सब समाचार सुने तब आग-बबूला होकर उसने शाहज़ादा मुअज़्ज़म को पञ्जाबी राजाओं से कर वसूल करने तथा विद्रोहियों को दण्ड देने के लिए भेजा। लाहौर पहुँचकर शाहज़ादे ने गुरु तथा राजाओं को दण्ड देने के लिए मिरज़ा बेग के अधीन एक सेना भेजी। इस सेना को भी सफलता प्राप्त नहीं हुई, जिससे शाहज़ादा बड़ा निराश और क्रोधित हुआ। अब उसने स्वयम् युद्धक्षेत्र में प्रवेश करने का संकल्प किया। किन्तु शाहज़ादे का मंत्री नन्दलाल गुरु के अनुयायियों में से था। उसने शाहज़ादे को गुरु की ओर से समझा-बुझा दिया। इससे गुरु तो बच गये, परन्तु शाही सेनापति

मिरज़ाबेग ने राजाओं का दमन किया। उसने राजाओं को बड़ी-बड़ी कठोर यन्त्रणाएँ दीं। उनके गाँवों में आग लगवा दी, सैकड़ों को बन्दी कर दिया। दूसरों को शिक्षा देने के लिए उनके सिर आदि मुँड़वाकर, मुँह काले कर, गधों पर चढ़ा समस्त देश में फिरवाया। भला फिर राजाओं की क्या ताब थी कि ऐसी-ऐसी यन्त्रणाएँ प्राप्त होने पर भी ठहरते। उन्होंने खुल्लम-खुल्ला बड़ी बुरी तरह से मुआफ़ी माँगी और पिछला जो कुल राजकर बाकी था सब चुका दिया। इसके पश्चात् गुरु ने राजाओं को फिर जातीयता के नाम पर उभारना चाहा था, पर वे मिरज़ा बेग के अत्याचारों से इतने भयभीत हो गये थे कि उनको फिर शाही सेना से मुक़ाबला करने का साहस नहीं हुआ। उन्होंने गुरु की बात पर ध्यान नहीं दिया। गुरु ने पुनः अपने अनुयायियों को पहाड़ी रियासतों पर छोड़ दिया। परिणाम यह हुआ कि सिक्खों ने पहाड़ी राज्यों में लूट-खसोट आरम्भ कर दी। राजाओं को बड़ी-बड़ी कठोर यंत्रणाएँ मिलने लगीं। उन्होंने फिर एक बार आपस में सन्धि करके बीस हज़ार योद्धाओं सहित गुरु का मुक़ाबला किया। आनन्दपुर के पास लड़ाई हुई। राजाओं की सम्मिलित सेना गुरु की सेना के सामने ठहर न सकी। ख़ालसा सेना से परास्त होकर पहाड़ी राजाओं ने बादशाह औरंगज़ेब की सेवा में एक प्रार्थनापत्र भेजा, जिसमें लिखा था कि "गुरु ने राजत्व के ये चिह्न धारण कर लिये हैं और वे अपने को सच्चा बादशाह कहते हैं।" इस प्रार्थनापत्र पर औरङ्गज़ेब ने सरहिन्द के सूबेदार को

यह आज्ञा दी कि "तुम स्वयम् जाकर गुरु से युद्ध करो और उन्हें दण्ड दो।" औरङ्गज़ेब की इस आज्ञा के कारण सरहिन्द के शासक ने एक प्रबल सेना लेकर गुरु पर आक्रमण किया। सारे पहाड़ी राजाओं ने भी सरहिन्द के हाकिम का साथ दिया। दोनों ओर से घमासान युद्ध होने लगा। सिक्खों ने इस युद्ध में अपनी अभूतपूर्व वीरता का परिचय दिया। किंतु शत्रुओं की प्रबल सेना से मुट्ठी भर सिक्ख कब तक जूझते? दो दिन लगातार युद्ध के बाद सिक्ख लोग युद्ध में ठहर न सके और गुरु को आनंदपुर क़िले में आश्रय लेना पड़ा। वहाँ उन्होंने अपने आपको बंद कर लिया। दुर्ग में पहुँचकर गुरु शत्रुओं से घिर गये। शाही सेना दुर्ग को चारों ओर से घेरे पड़ी रही और बाहर से दुर्ग के भीतर आना-जाना सर्वथा बन्द हो गया।

गुरु के इस भाँति घिर जाने पर शाही सेना के सेनापतियों ने गुरु के पास पैग़ाम भेजा—"शाही सेना का मुकाबला छोड़कर बादशाह की अधीनता स्वीकार कर लो, इसी में भला है। अपना धर्म परित्याग करके इस्लाम मत को ग्रहण कर लो।" जिस समय शाही सेना के दूत ने ये बातें बढ़ाकर गुरु के सामने कही थीं उस समय गुरु का बड़ा बेटा अजीतसिंह वहीं पर बैठा हुआ था। दूत की बातों पर उसका ख़ून खौलने लगा। उसने शीघ्र ही म्यान से तलवार निकालकर दूत से कहा—"बस, अब इस प्रकार का और भी कोई धृष्टता का शब्द गुरु के सामने निकाला तो तेरा सिर धृष्टता के अपराध में अभी काट लूँगा और तेरे शरीर के टुकड़े-टुकड़े

कर दूँगा।" अजीतसिंह के शब्दों को सुनकर दूत क्रोध के मारे शाही कैंप में चला आया। गुरु जय पराजय के लिए नहीं लड़ रहे थे, वे तो धर्म के लिए लड़ रहे थे। उन्होंने मुग़लों की अधीनता स्वीकार करके अपने उच्च सिद्धान्तों का विसर्जन करना अथवा अपनी जाति को सदैव के लिए पराधीनता की बेड़ी में जकड़ना उचित नहीं समझा। इसलिए उन्होंने अपने पुत्र के कथन का खण्डन नहीं किया। गुरु ने आक्रमण करनेवालों के आक्रमण का उत्तर दिया। विशाल सेना के सामने थोड़े से सिक्ख कब तक लड़ सकते थे? क़िले में घिर जाने से भोजन आदि की सामग्री भी नहीं पहुँच सकती थी। इससे सैनिकों को विशेष कष्ट होने लगा। लोग गुरुजी से अधीनता स्वीकार करने के लिए कहने लगे। गुरुजी ने उन्हें बहुत समझाया, पर उनके सब साथी भाग गये, केवल उनके ४५ श्रद्धालु अनुयायी उनके साथ दुर्ग में रहे। किसी तरह का अपना उपाय चलता न देखकर और अन्न-जल बिना प्राण देने की अपेक्षा गुरु गोविन्दसिंह एक अंधेरी रात्रि में अवसर पाकर क़िले के बाहर निकले। उन्होंने यथाशक्ति दौड़कर चमकौर के दुर्ग तक पहुँचने की चेष्टा की, पर यह भेद खुल गया। स्वयम् ख़्वाज़ा मुहम्मद तथा नाहरख़ाँ के अधीन कुछ सेना ने उस दुर्ग तक गुरु का पीछा किया। गुरु के मुट्ठी भर भक्त अनुयायियों ने अन्त समय तक युद्ध किया। इस युद्ध में उनके ज्येष्ठ पुत्र अजीतसिंह तथा जुझारसिंह और उनकी माता सुन्दरी का वध हुआ। स्वयम् गुरु ने बड़ी वीरता से युद्ध किया और

अपने हाथों से नाहरख़ाँ को मार डाला और ख़्वाज़ा मुहम्मद को घायल कर दिया। पर इस युद्ध में गुरु को अनेक कष्ट सहन करने पड़े। उन्हें भेष बदलकर कई स्थानों में भ्रमण करना पड़ा।

इस प्रकार वे उस सङ्कट से बचकर मालवा की ओर चले गये। इस युद्ध के कारण गुरु के चारों लड़के मारे गये, पर इन सब आपत्तियों से भी वे अपने कर्तव्य से डिगे नहीं। जिस तरह महाराणा प्रतापसिंह ने घास की रोटी खाने पर भी सम्राट् अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं की थी, उसी प्रकार गुरु गोविन्दसिंह ने भी अनेक कष्ट सहकर सम्राट् औरङ्गज़ेब के सामने अपना मस्तक नहीं नवाया। अपने चारों लड़कों के मारे जाने पर भी उन्होंने जो व्रत ग्रहण किया था उसका परित्याग नहीं किया।

गुरु गोविन्दसिंह की जीवनी से बड़ी भारी शिक्षा यह प्राप्त होती है कि कर्तव्य परायण व्यक्ति के सामने सब संकट तुच्छ हैं। जो मनुष्य अपना कर्तव्य पालन करता है वह मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है, जिसने अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया है वही मृत्यु से हारा है। कर्तव्य-परायण व्यक्ति विघ्न-बाधाओं से नहीं घबराते हैं। आँखों के तारे, दुलारे चारों पुत्रों की मृत्यु हो जाने पर भी गुरु गोविन्दसिंह शोक से अधीर नहीं हुए। वे पहले के समान कर्तव्य-कर्म में जुटे रहे। पहले के समान दृढ़चित होकर वे अपना कर्तव्य पालन करने को तैयार हुए। गुरु गोविन्द सिंह के अलौकिक साहस की प्रशंसा मित्र ही नहीं, शत्रु भी करते थे।

कहते हैं कि बादशाह औरङ्गज़ेब गुरु गोविन्दसिंह के इस अपूर्व

एवम् अलौकिक साहस पर मोहित हो गया था। उसने गुरु गोविन्दसिंह को अपने यहाँ बुलाने की चेष्टा की, किन्तु वे औरङ्गज़ेब की कपट-नीति को समझ गये थे, इसलिए बार बार उसके बुलाने पर भी नहीं गये। उन्होंने बड़ी घृणा के साथ उत्तर दिया था—"मैं बादशाह का कभी किसी प्रकार विश्वास नहीं कर सकता। इस समय भी ख़ालसा लोग बादशाह के पहले अपराधों का बदला लेंगे।" इसके अनन्तर उन्होंने बाबा नानक के धर्म-संस्कार, अर्जुन तथा तेग़ बहादुर की शोचनीय मृत्यु तथा पुत्रहीन होने का हाल वर्णन कर लिखा—"मुझे इस संसार के किसी भोग-विलास की इच्छा नहीं है। मैं तो धैर्यपूर्वक मृत्यु की बाट देख रहा हूँ। राजाओं के राजा सबसे बड़े बादशाह परमेश्वर के अतिरिक्त मुझे किसी का भय नहीं है।"

ऐसा कोरा जवाब पाकर भी औरङ्गज़ेब गुरु गोविन्दसिंह से मिलने को तैयार हुआ और उसने आग्रहपूर्वक उनको दिल्ली आने के लिए लिख भेजा। गुरु गोविन्दसिंह औरङ्गज़ेब से मिलने को तैयार भी हुए, किन्तु दिल्ली के पास पहुँचते ही उनको ज्ञात हुआ कि मुग़ल सम्राट् औरङ्गज़ेब की मृत्यु हो गयी है। कई इतिहास-लेखकों ने लिखा है कि औरङ्गज़ेब के उत्तराधिकारी बहादुरशाह ने उनके साथ प्रेमपूर्वक बर्ताव भी किया था। कोई-कोई कहते हैं कि दक्षिण में गुरु गोविन्दसिंह बादशाह के साथ गये भी थे और बादशाह ने उन्हें सेना में एक उच्च पद भी दिया था। जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि ज़बरदस्त बादशाह औरङ्गज़ेब की सलतनत को

ज़वाल तक पहुँचानेवाले शिवाजी और गुरु गोविन्दसिंह ही थे। गुरु गोविन्दसिंह ने सिक्खों में ऐसी अग्नि प्रज्वलित कर दी थी कि जो उनके पीछे भी नहीं बुझी। गुरु गोविन्दसिंह की मृत्यु के पश्चात् सिक्खों ने अनेक कष्ट सहे, परन्तु वे अपने उद्देश्य से पीछे नहीं हटे।

गुरु गोविन्दसिंह का जीवन-प्रदीप सन् १७०८ में बुझ गया। उनका देहान्त ४८ वर्ष के अपूर्ण वय में गोदावरी के तट पर 'नादेर' स्थान में हो गया। गुरु की मृत्यु का कारण यह बतलाया जाता है कि गुरु शान्ति के साथ दक्षिण में अपना समय व्यतीत कर रहे थे कि एक दिन दो पठान लड़कों ने अपने पिता का बदला लेने के लिए गुरु के पेट में दो छुरियाँ भोंक दीं।

दोनों लड़के पकड़ लिये गये, पर गुरु ने दोनों को यह कह-कर क्षमा कर दिया कि* उन्होंने केवल अपने बाप की मृत्यु का बदला लिया है। गुरुजी के घाव सिलवाये गये। वे अच्छे भी हो गये थे, पर थोड़े दिन पीछे वे एक बाण की परीक्षा कर रहे थे कि उसी समय उनका देहान्त हो गया। सच पूछिये तो गुरु गोविन्दसिंह ने इस देश के निमित्त पूर्णाहुति दी। आज गुरु गोविन्दसिंह को मानव-लीला संवरण किये हुए बहुत दिन हो गये हैं, परन्तु देश और धर्म की सेवा करने के कारण वे आज भी जीवित हैं। उनके अनु-करणीय जीवन से अनेक शिक्षाएँ प्राप्त हो सकती हैं।

---

* लड़कों के बाप को गुरु ने किसी समय मार डाला था। पर उन्होंने लड़कों का लालन-पालन किया था।

अहिंसा और तलवार का उसूल

पं. जवाहरलाल नेहरू

[इसके असली लेखक हमारे देश के नेता, पं. जवाहरलाल जी नेहरू हैं। आपमें लिखने की जो गज़ब की शक्ति है उसके बारे में विशेष कुछ कहना अनावश्यक है। पंडितजी अभी ५५ वर्ष के नौजवान हैं।

मगर इस लेख की भाषा आपकी नहीं है। यह खंड पंडितजी की "मेरी कहानी" नामक पुस्तक से लिया गया है। उसके अनुवादक हैं हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक और राष्ट्रीय कार्यकर्ता श्री हरिभाऊ जी उपाध्याय।]

चौरीचौरा-काण्ड के बाद हमारे आन्दोलन के एकाएक मुल्तवी किये जाने से, मेरा ख़्याल है, गांधीजी को छोड़कर कांग्रेस के बाक़ी तमाम नेताओं में बहुत ही नाराज़गी फैली थी। मेरे पिताजी, जो उस वक्त जेल में थे, उस पर बहुत ही बिगड़े थे। क़ुदरतन नौजवान कांग्रेसियों को तो यह बात और भी ज़्यादा बुरी लगी थी। हमारी बढ़ती हुई उम्मीदें धूल में मिल गयीं। इसलिए उसके ख़िलाफ़ इतनी नाराज़गी का फैलना स्वाभाविक ही था। आन्दोलन के मुल्तवी किये जाने से जो तकलीफ़ हुई उससे भी ज़्यादा तकलीफ़ मुल्तवी करने के जो कारण बताये गये उनसे तथा उन कारणों से पैदा होनेवाले नतीजों से हुई। हो सकता है कि चौरीचौरा एक खेदजनक घटना हो, वह थी भी खेदजनक और अहिंसात्मक आन्दोलन के भाव के बिलकुल ख़िलाफ़; लेकिन क्या हमारी आज़ादी की राष्ट्रीय लड़ाई कम-से-कम कुछ वक्त के लिए

महज़ इसलिए बन्द हो जाया करेगी कि कहीं दूर के किसी कोने में पड़े गाँव में किसानों की उत्तेजित भीड़ ने कोई हिंसात्मक काम कर डाला ? अगर इस तरह अचानक ख़ून-ख़राबी का यह ज़रूरी नतीजा होना है तब तो इस बात में कोई शक नहीं कि अहिंसात्मक लड़ाई की विद्या और उसके मूल सिद्धांत में कुछ कमी है ; क्योंकि हम लोगों को इसी तरह की किसी न किसी अनचाही घटना के न होने की गारण्टी करना ग़ैर-मुमकिन मालूम होता था। क्या हमारे लिए यह लाज़मी है कि आज़ादी की लड़ाई में आगे क़दम रखने से पहले हम हिन्दुस्तान के तीस करोड़ से भी ज़्यादा लोगों को अहिंसात्मक लड़ाई का उसूल और अमल सिखा दें ? और यही क्यों, हममें ऐसे कितने हैं जो यह कह सकते हैं कि पुलिस से बहुत ज़्यादा उत्तेजना मिलने पर भी हम लोग पूरी तरह से शांत रह सकेंगे ? लेकिन अगर हम इसमें कामयाब भी हो जाँय तो जो बहुत से भड़कानेवाले एजेण्ट और चुगलख़ोर वग़ैरह हमारे आन्दोलन में आ घुसते हैं, और जो या तो ख़ुद ही कोई मारकाट कर डालते हैं या दूसरों से करा देते हैं, उनका क्या होगा ? अहिंसात्मक लड़ाई के लिए यही शर्त रही कि वह तभी चल सकती है जब कहीं कोई भी ज़रा ख़ून-ख़राबी न करे, तब तो अहिंसात्मक लड़ाई हमेशा असफल ही रहेगी।

हम लोगों ने अहिंसा के तरीक़े को इसलिए मंजूर किया था और कांग्रेस ने भी इसीलिए उसे अपनाया था, कि हमें यह विश्वास था कि वह तरीक़ा कारगर है। गांधीजी ने उसे मुल्क के सामने

महज़ इसीलिए नहीं रक्खा था कि वह सही तरीक़ा है, बल्कि इसलिए भी कि हमारे मतलब के लिए वह सबसे ज़्यादा कारगर था। यद्यपि उसका नाम नकार में है तो भी वह है बहुत ही बल और प्रभाव रखनेवाला तरीक़ा, और ऐसा तरीक़ा जो ज़ालिम की ख़्वाहिश के सामने चुपचाप सिर झुकाने के बिलकुल ख़िलाफ़ था। वह तरीक़ा कायरों का तरीक़ा नहीं था, जिसमें लड़ाई से मुँह छिपाया जाय; बल्कि बुराई और क़ौमी गुलामी की मुख़ालिफ़त करने के लिए बहादुरों का तरीक़ा था। लेकिन अगर किन्हीं भी थोड़े से शख़्सों के—मुमकिन है वे दोस्ती का लबादा ओढ़े हुए हमारे दुश्मन हों—हाथ में यह ताक़त हो कि वे ऊटपटांग बेतहाशा कामों से हमारे आन्दोलन को रोक या ख़त्म कर सकते हैं तो बहादुराना से बहादुराना और मज़बूत से मज़बूत तरीक़े से भी आखिर क्या फ़ायदा?

धारा-प्रवाह बोलने की और लोगों को समझाने की ताक़त गांधीजी में कसरत से मौजूद है। अहिंसा का और शान्तिमय असहयोग का रास्ता अख़्तियार कराने के लिए उन्होंने अपनी ताक़त से पूरा-पूरा काम लिया था। उनकी भाषा सीधी-सादी थी, उसमें बनावट बिलकुल न थी। उनकी आवाज़ और उनकी मुखमुद्रा शान्त और साफ़ थी। उसमें विकार का नामोनिशान भी न था, लेकिन बरफ़ की उस बाहरी ओढ़नी के पीछे एक ठोस जोश और उमंग और जलती हुई ज्वाला की गरमी थी। उनके मुख से शब्द उड़-उड़कर ठेठ हमारे दिलो-दिमाग़ के भीतरी-से-भीतरी कोने में घर कर गये, और

उन्होंने वहाँ एक अजीब खलबली पैदा कर दी। उन्होंने जो रास्ता बताया था वह कड़ा और मुश्किल था, लेकिन था बहादुरी का और ऐसा मालूम पड़ता था कि वह आज़ादी के मक़सद पर हमें ज़रूर पहुँचा देगा। १९२० में 'तलवार का उसूल' नाम के एक नामी लेख में उन्होंने लिखा था :—

"मैं यह विश्वास ज़रूर रखता हूँ कि अगर सिर्फ़ बुज़दिली और हिंसा में से चुनाव करना हो तो मैं हिंसा को चुनने की सलाह दूँगा। मैं यह पसन्द करूँगा कि हिन्दुस्तान अपनी इज़्ज़त बचाने के लिए हथियारों की मदद ले बनिस्बत इसके कि वह कायरों की तरह खुद अपनी बेइज़्ज़ती का असहाय शिकार हो जाय या बना रहे। लेकिन मेरा विश्वास है कि अहिंसा हिंसा से कहीं ऊँची है, सज़ा की बनिस्बत माफ़ी देना कहीं ज़्यादा बहादुरी का काम है। 'क्षमा वीरस्य भूषणम्'। क्षमा से वीर की शोभा बढ़ती है। लेकिन सज़ा न देना उसी हालत में क्षमा होती है जब सज़ा देने की ताक़त हो। किसी असहाय जीव का यह कहना कि मैंने अपने से बलवान को क्षमा किया, कोई मानी नहीं रखता। जब एक चूहा बिल्ली को अपने शरीर के टुकड़े-टुकड़े करने देता है तब वह बिल्ली को क्षमा नहीं करता।... लेकिन मैं यह नहीं समझता कि हिन्दुस्तान कायर है। न मैं यही समझता हूँ कि मैं बिलकुल असहाय हूँ....।

"कोई मुझे समझने में ग़लती न करे। ताक़त शारीरिक बल से नहीं आती, वह तो अदम्य इच्छा-शक्ति से ही आती है।

"कोई यह न समझे कि मैं हवाई और ख़याली आदमी हूँ। मैं तो अमली आदर्श-वादी होने का दावा करता हूँ। अहिंसा-धर्म महज़ ऋषि और महात्माओं के लिए ही नहीं है, वह तो आम लोगों के लिए भी है। जैसे पशुओं के लिए हिंसा प्रकृति का नियम है वैसे ही अहिंसा हम मनुष्यों की प्रकृति का क़ानून है। पशुओं की आत्मा सोती पड़ी रहती है और वह शारीरिक बल के अलावा और क़ानून को जानती ही नहीं। इन्सान का गौरव चाहता है कि वह ज़्यादा ऊँचे क़ानून की ताक़त—आत्मा की ताक़त—के सामने सिर झुकावे।

"इसीलिए मैंने हिन्दुस्तान के सामने आत्मत्याग का, अपनी कुर्बानी का, पुराना नियम पेश करने की जुर्रत की है। क्योंकि सत्याग्रह और उसकी शाखाएँ, असहयोग और सविनय प्रतिरोध, कष्ट-सहन के नियम के दूसरे नामों के अलावा और कुछ नहीं है। जिन ऋषियों ने, हिंसा में से अहिंसा का नियम ढूँढ़ निकाला, वे न्यूटन से ज़्यादा प्रतिभाशाली थे। वे ख़ुद वेलिंगटन से ज़्यादा योद्धा थे; वे हथियार चलाना जानते थे, लेकिन अपने अनुभव से उन्होंने उन्हें बेकार पाया और भयभीत दुनियाँ को यह सिखाया कि उसका छुटकारा हिंसा के ज़रिये नहीं होगा, बल्कि अहिंसा के ज़रिये होगा।

"अपनी सक्रिय दशा में अहिंसा के मानी है जान-बूझकर तकलीफ़ें उठाना। उसके मानी यह नहीं है कि आप बुरा करने-वाले की ख़्वाहिश के सामने चुपचाप अपना सिर झुका दें, बल्कि उसके मानी यह है कि हम ज़ालिम को ख़्वाहिश के ख़िलाफ़ अपनी

पूरी आत्मा को भिड़ा दें। अपनी हस्ती के इस क़ानून के मुताबिक काम करते हुए, महज़ एक शख़्स के लिए भी यह मुमकिन है कि वह अपनी इज़्ज़त, अपने मज़हब और अपनी आत्मा को बचाने के लिए, किसी अन्यायी साम्राज्य की ताक़त को ललकार दे और उसके साम्राज्य के पुनरुद्धार या पतन की नींव डाल दे।

"और इसीलिए मैं हिन्दुस्तान से अहिंसा का रास्ता अख़्तियार करने के लिए इसलिए नहीं कहता कि वह कमज़ोर है। मैं चाहता हूँ कि वह अपनी ताक़त और अपने बल-भरोसे को जानते हुए अहिंसा पर अमल करे....मैं चाहता हूँ कि हिन्दुस्तान यह पहचान ले कि उसके एक आत्मा है, जिसका नाश नहीं हो सकता और जो तमाम शारीरिक कमज़ोरियों पर फ़तह पा सकती है और तमाम दुनियाँ के शारीरिक बलों का मुकाबिला कर सकती है.....

"इस असहयोग को मैं 'सिनफिन' आन्दोलन से अलग समझता हूँ; क्योंकि इसका जिस तरह से ख़याल किया गया है उस तरह से वह हिंसा के साथ-साथ कभी हो ही नहीं सकता। लेकिन मैं तो हिंसा के सम्प्रदाय को भी दावत देता हूँ कि वे इस शान्तिमय असहयोग की परीक्षा तो करें। वह अपनी अन्दरूनी कमज़ोरी की वजह से नाकामयाब न होगा। हाँ, अगर ज़्यादा तादाद में लोग उसे अख़्तियार न करें तो वह नाकामयाब हो सकता है। वही वक़्त असली ख़तरे का वक्त होगा; क्योंकि उस वक़्त वे उच्चात्मा जो अधिक समय तक राष्ट्रीय अपमान सहन नहीं कर सकते, अपना

ग़ुस्सा नहीं रोक सकेंगे। वे हिंसा का रास्ता अख्तियार करेंगे। जहाँ तक मैं जानता हूँ, वे अपना या मुल्क का ग़ुलामी से छुटकारा किये बिना ही बरबाद हो जाएँगे। अगर हिन्दुस्तान तलवार के पक्ष को ग्रहण कर ले तो मुमकिन है कि शायद वह क्षणिक विजय पा ले। परन्तु उस वक़्त हिन्दुस्तान के लिए मेरे हृदय में गर्व न होगा। मैं तो हिन्दुस्तान से इसलिए बँधा हुआ हूँ कि मेरे पास जो कुछ है वह सब मैंने उसी से पाया है। मुझे पक्का और पूरा विश्वास है कि दुनियाँ के लिए हिन्दुस्तान का एक मिशन है।"

इन दलीलों का हमारे ऊपर बहुत असर पड़ा, लेकिन हम लोगों की राय में और कुल मिलाकर कांग्रेस की राय में अहिंसा का तरीक़ा न तो मज़हब या अकाट्य सिद्धान्त या धर्म का तरीक़ा था, और न हो ही सकता था। हमारे लिए तो वह ज़्यादा से ज़्यादा एक ऐसी नीति या एक ऐसा सहल तरीक़ा ही हो सकता था, जिससे हम ख़ास नतीजों की उम्मीद करते थे, और उन्हीं नतीजों से आख़िर हम उसकी बाबत फ़ैसला करते। अपने-अपने लिए लोग उसे भले ही मज़हब बना लें या निर्विवाद धर्म मान लें, परन्तु कोई भी राजनैतिक संस्था, जब तक वह राजनैतिक है, ऐसा नहीं कर सकती।

चौरी चौरा और उसके नतीजे ने हम लोगों को, एक साधन के रूप में, अहिंसा के इन पहलुओं की जाँच करने को मज़बूर कर दिया और हम लोगों ने यह महसूस किया कि अगर आन्दोलन मुल्तवी करने के लिए गांधीजी ने जो कारण बताये हैं वे सही हैं तो

हमारे मुख़ालिफ़ों के पास हमेशा वह ताक़त रहेगी, जिससे वे ऐसी हालतें पैदा कर दें जिनसे लाज़मी तौर पर हमें अपनी लड़ाई छोड़ देनी पड़े। आया यह क़सूर ख़ुद अहिंसा के तरीक़े का था या उसकी उस व्याख्या का, जो गांधीजी ने की? लेकिन आख़िर वही तो उस तरीक़े के जन्मदाता थे? उनसे ज़्यादा इस बात का बेहतर जज और कौन हो सकता था कि वह तरीक़ा क्या है और क्या नहीं है? और बिना उनके हमारे आन्दोलन का क्या ठिकाना होगा?

लेकिन बहुत बरसों के बाद, १९३० की सत्याग्रह की लड़ाई शुरू होने से ठीक पहले, हमें यह देखकर बड़ा सन्तोष हुआ कि गांधीजी ने इस बात को साफ़ कर दिया। उन्होंने कहा कि कहीं इक्के-दुक्के हिंसात्मक काण्ड हो जायँ तो उसकी वजह से हमें लड़ाई छोड़ने की ज़रूरत नहीं है। अगर ऐसी घटनाओं की वजह से, जो कहीं न कहीं हुए बिना नहीं रह सकतीं, अहिंसा का तरीक़ा काम नहीं कर सकता तो ज़ाहिर था कि वह हर मौक़े के लिए सबसे अच्छा तरीक़ा नहीं है। और गांधीजी इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं थे। उनकी राय में तो जब वह तरीक़ा सही तरीक़ा है तो वह सब मौक़ों के लिए मौज़ूँ होना चाहिए, और कम से कम संकुचित दायरे में ही सही; लेकिन विरोधी आबोहवा में भी उसे अपना काम करते रहना चाहिए। इस व्याख्या ने अहिंसात्मक लड़ाई का क्षेत्र बढ़ा दिया। लेकिन यह व्याख्या गांधीजी के विचारों के विकास की गवाही देती है, या क्या, यह मैं नहीं जानता।

असल बात तो यह है कि फ़रवरी १९२२ में सत्याग्रह का मुल्तवी किया जाना महज़ चौरीचौरा की वजह से नहीं हुआ, हालाँकि ज़्यादातर लोग यही समझते थे। वह तो असल में एक आख़िरी निमित्त हो गया था। गांधीजी अक्सर अपनी अन्तःप्रेरणा या सहज-बुद्धि से प्रेरित होकर काम करते हैं। ऐसा मालूम होता है कि जैसे महान् लोक-प्रिय नेता अक्सर किया करते हैं वैसे ही गांधीजी ने बहुत अर्से से जनता के नज़दीक रहकर एक नयी इन्द्रिय पैदा कर ली है, जो उनको यह बता देती है कि जनता क्या महसूस कर रही है और वह क्या कर सकती है तथा क्या नहीं कर सकती। वह इस सहज-प्रेरणा को सुनते हैं और तुरन्त उसी के मुताबिक अपने कार्य को रूप दे देते हैं और उसके बाद अपने चकित और नाराज़ साथियों के लिए अपने फ़ैसलों को कारणों का जामा पहनाने की कोशिश करते हैं। यह जामा अक्सर बिलकुल नाकाफ़ी होता है, जैसे कि चौरीचौरा के बाद मालूम होता था। उस वक़्त हमारा आन्दोलन बावजूद उसके ऊपरी दिखाई देनेवाले और लम्बे चौड़े जोश के, अन्दर से तितर-बितर हो रहा था। तमाम संगठन और अनुशासन का लोप हो रहा था। क़रीब-क़रीब हमारे सब अच्छे आदमी जेल में थे, और उस वक़्त तक आम लोगों को खुद अपने बल पर लड़ाई चलाते रहने की बहुत ही कम—नहीं के बराबर शिक्षा मिली थी। जो भी अजनबी आदमी चाहता, कांग्रेस कमेटी का चार्ज ले सकता था, और दर असल बहुत से एतराज़ के क़ाबिल

लोग, जिनमें लोगों को उकसाने तथा भड़ाकानेवाले सरकारी एजेण्ट तक शामिल थे, घुस आये थे और कुल मुक़ामी कांग्रेस और खिला-फ़त-कमेटियों पर हावी हो गये थे। ऐसे लोगों को रोकने का उस वक्त कोई चारा न था।

इसमें कोई शक नहीं कि कुछ हद तक इस तरह की बात इस क़िस्म की लड़ाई में बहुत कुछ लाज़मी है। नेताओं के लिए यह लाज़िमी है कि वे सबसे पहले ख़ुद जेल जाकर लोगों को रास्ता दिखावें और दूसरों पर यह भरोसा करें कि वे लड़ाई चलाते रहेंगे। ऐसी दशा में जो कुछ किया जा सकता है वह सिर्फ़ इतना ही कि जनता को कुछ मामूली सीधे-सादे काम करना और उससे भी ज़्यादा कुछ क़िस्म के कामों से बचते रहना सिखा दिया जाय। १९३० में इस तरह की तालीम देने में हमने पहले ही कुछ साल लगा दिये थे। इसी से उस वक्त और १९३२ में सविनय-भंग-आन्दोलन बहुत ही ताक़त के साथ और संगठित रूप में चला था। १९२१ और १९२२ में इस बात की कमी थी। उन दिनों लोगों के जोशो-ख़रोश के पीछे और कुछ न था। इसमें कोई शक नहीं कि अगर आन्दोलन जारी रहता तो कई जगह भयंकर हत्याकाण्ड हो जाते। इन हत्याकाण्डों को सरकार बदतर हत्याकाण्डों द्वारा कुचलती। डर का राज क़ायम हो जाता, जिससे लोग बुरी तरह पस्त हिम्मत हो जाते।

गांधीजी के दिमाग़ में जिन असरों और सबबों ने काम

किया वे सम्भवतः यही थे। उनकी मूल बातों तथा अहिंसा-शास्त्र के मुताबिक काम करना वाञ्छनीय था। इस बात को मान लेने के बाद कहना होगा कि उनका फ़ैसला सही ही था। उनको ये सब ख़राबियाँ रोककर नये सिरे से रचना करनी थी। एक दूसरी और बिलकुल जुदा दृष्टि से देखने पर उनका फ़ैसला ग़लत भी माना जा सकता है, लेकिन उस दृष्टि-कोण का अहिंसात्मक तरीक़े से कोई ताल्लुक न था। आप एक साथ दाएँ और बाएँ दोनों रास्तों पर नहीं चल सकते। इसमें कोई शक नहीं कि अपने उस आन्दोलन को उस अवस्था में और उस ख़ास इक्की-दुक्की वजह से सरकारी हत्याकाण्डों द्वारा कुचल डालने का निमंत्रण देने से भी राष्ट्रीय आन्दोलन ख़त्म नहीं हो सकता था। क्योंकि ऐसे आन्दोलनों का ऐसा तरीका है कि वे अपनी चिता के भस्म में से ही फिर उठ खड़े होते हैं। अक्सर थोड़े वक्त के लिए हार जाने से भी समस्याओं को भली-भाँति समझने में और लोगों को पक्का तथा मज़बूत करने में मदद मिलती है। असली बात पीछे हटना या दिखावटी हार नहीं है, बल्कि सिद्धान्त और आदर्श है। अगर जनता इन उसूलों का तेज कम न होने दे तो नये सिरे से ताक़त हासिल करने में देर नहीं लगती। लेकिन १९२१ और १९२२ में हमारे उसूल और हमारा मक़सद क्या था? एक धुंधला स्वराज्य, जिसके पीछे उसका कोई साफ़ विचार-विज्ञान तो न था। लेकिन था सिर्फ़ अहिंसात्मक लड़ाई का एक ख़ास शास्त्र। अगर लोग किसी बड़े पैमाने पर

इक्के-दुक्के हिंसाकाण्ड कर डालते तो अपने आप पिछला यानी अहिंसा का तरीक़ा ख़त्म हो जाता और जहाँ तक पहली बात, यानी स्वराज से ताल्लुक़ है उसमें ऐसी कोई बात न थी, जिसके लिए लोग अड़ते। आम तौर पर लोग इतने मज़बूत न थे कि ज़्यादा अरसे तक लड़ाई चलायी जाती। विदेशी शासन के ख़िलाफ़ क़रीब-क़रीब सर्वव्यापी असंतोष और कांग्रेस के साथ सब लोगों की हमदर्दी के बावजूद लोगों में काफ़ी कुव्वत या संगठन न था। वे टिक नहीं सकते थे। जो हज़ारों लोग जेल गये वे भी क्षणिक जोश में आकर और यह उम्मीद करते हुए कि तमाम क़िस्सा कुछ ही दिनों में तय हो जायगा।

इसलिए यह हो सकता है कि १९२२ में सत्याग्रह को मुल्तवी करने का जो फ़ैसला किया गया, वह ठीक ही था, हालाँकि उसके मुल्तवी करने का तरीक़ा और भी बेहतर हो सकता था। उसकी वजह से लोगों की निष्ठा ढीली हो गयी और एक प्रकार की पस्तहिम्मती आ गयी।

मगर मुमकिन है कि इस बड़े आन्दोलन को इस तरह एका-एक बोतल में बन्द करने से उन दुःखान्त काण्डों के होने में मदद मिली जो देश में बाद को जाकर हुए। राजनैतिक संग्राम में फुटकर और बेकार हिंसाकाण्डों की ओर बहाव तो रुक गया, लेकिन इस तरह दबायी गयी हिंसा-वृत्ति अपने निकलने का रास्ता तो ढूँढ़ती ही; और शायद बाद के सालों में इसी बात ने हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों को

बढ़ाया। असहयोग और सविनय-भंग या सिविल नाफ़रमानी की हलचल को आम लोगों की जो भारी इमदाद मिली उससे तरह-तरह के साम्प्रदायिक नेता जो राजनीति में ज़्यादातर प्रतिक्रियावादी थे—लोगों की निगाह से गिरकर दबे पड़े थे—अब उस हलचल के बन्द होने पर बाहर निकल आये। बहुत से दूसरे लोगों ने भी—जैसे खुफ़िया के एजेण्टों तथा उन लोगों ने जो हिन्दू मुसलमानों में फ़िसाद कराके हाकिमों को खुश करना चाहते थे—हिन्दू-मुस्लिम वैर बढ़ाने में मदद की। मोपलाओं के उत्पात से तथा जिस निहायत बेरहमी से उसे कुचला गया उससे उन लोगों को एक अच्छा हथियार मिला जो फ़िरकेवाराना झगड़े पैदा कराना चाहते थे। रेल्वे के बन्द डिब्बों में मोपला क़ैदियों का भुरता कर देना तो एक बहुत ही बीभत्स दृश्य था। यह मुमकिन हो सकता है कि अगर सत्याग्रह बन्द न किया गया होता और उसे सरकार ने ही कुचला होता तो उस हालत में क़ौमी ज़हर इतना न बढ़ता और बाद को जो क़ौमी दंगे हुए उनके लिए बहुत ही कम ताक़त बाक़ी रहती।

सत्याग्रह बन्द करने से पहले एक घटना हुई, जिसके नतीजे बिलकुल दूसरे हो सकते थे। सत्याग्रह की पहली लहर से सरकार भौंचक रह गयी और डर गयी। इसी वक़्त वाइसराय लार्ड रीडिंग ने एक आम स्पीच में यह कहा कि मैं हैरान व परेशान हूँ। उन दिनों युवराज हिन्दुस्तान में थे और उनकी मौजूदगी से सरकार की ज़िम्मेदारी बहुत बढ़ गयी थी। दिसम्बर १९२१ के शुरू में जो

धड़ाधड़ गिरफ़्तारियाँ हुई थीं उनके बाद ही फ़ौरन उसी महीने में सरकार ने एक कोशिश की कि कांग्रेस से किसी किस्म का राज़ीनामा कर लिया जाय। यह बात ख़ास तौर पर कलकत्ते में युवराज की आमद को मद्दे नज़र रखकर की गयी थी। बंगाल सरकार के प्रतिनिधियों में और देशबन्धु दास में, जो उन दिनों जेल में थे, कुछ आपसी बातचीत हुई। मालूम पड़ता है कि इस तरह की तजवीज़ की गयी कि सरकार और कांग्रेस के प्रतिनिधियों में एक छोटी-सी गोलमेज़ कान्फ्रेंस की जाय। लेकिन यह तजवीज़ इसलिए गिर गयी, क्योंकि गांधीजी ने इस बात पर ज़ोर दिया कि मौलाना मुहम्मद अली को भी, जो उस वक्त कराची के जेल में थे, इस कान्फ्रेंस में मौजूद रहना ज़रूरी है और सरकार इस बात के लिए राज़ी न थी।

इस मामले में गांधीजी का यह रुख़ दास बाबू को पसन्द नहीं आया और कुछ वक़्त बाद जब वह जेल से छूटकर आये तब उन्होंने खुले आम गांधीजी की आलोचना की और कहा कि उन्होंने सख़्त ग़लती की है। हम लोग उन दिनों जेल में थे, इसलिए हममें से ज़्यादातर वे सब बातें नहीं जान सकते थे जो इस मामले में हुईं, और तमाम बातों को जाने बिना कोई फ़ैसला करना मुश्किल है। लेकिन यह मालूम होता है कि उस हालत में उस कान्फ्रेंस से कोई फ़ायादा नहीं हो सकता था। असल में सरकार महज़ यह कोशिश कर रही थी कि किसी तरह कलकत्ते में युवराज की आमद का वक़्त बिला खरख़शा निकल जाय। इससे तो जो बुनियादी मामले हमारे

सामने थे वे ज्यों के त्यों बने रहते। नौ बरस बाद जब राष्ट्र और कांग्रेस पहले से कहीं ज़्यादा ताक़तवर थी तब गोलमेज़ कान्फ्रेंस हुई और उससे कोई नतीजा न निकला। लेकिन इसके अलावा भी मुझे ऐसा मालूम होता है कि गांधीजी ने मुहम्मद अली की मौजूदगी पर ज़ोर देकर बिलकुल ठीक ही किया। कांग्रेस के लीडर की हैसियत से ही नहीं, बल्कि ख़िलाफ़त की हलचल के लीडर की हैसियत से भी; और उन दिनों कांग्रेस के प्रोग्राम का ख़िलाफ़त एक अहम मुद्दा था, उनकी मौजूदगी लाज़मी थी। जिस नीति या कार्रवाई में अपने साथी को छोड़ना पड़े वह कभी सही हो ही नहीं सकती। सरकार की एक इसी बात से कि वह उन्हें जेल से छोड़ने को तैयार न थी, इस बात का पता चल जाता है कि कान्फ्रेंस से किसी क़िस्म के नतीजे की उम्मीद करना बेकार था।

* * *

मुझे और पिताजी को अलग-अलग जुर्मों में अलग-अलग अदालतों में ६-६ महीने की सज़ाएँ दी थीं। मुक़द्दमे महज़ एक स्वांग थे और अपने रिवाज़ के मुताबिक़ हम लोगों ने उनमें कोई हिस्सा नहीं लिया था। इसमें कोई शक नहीं कि हमारे सब व्याख्यानों में और दूसरी हलचलों में सज़ा देने के लिए काफ़ी मसाला ढूँढ़ निकालना बहुत आसान था। लेकिन सज़ा दिलाने के लिए जो मसाला दर असल पसंद किया गया वह मज़ेदार था। पिताजी पर एक ग़ैरकानूनी जमात का मेम्बर होने—कांग्रेस स्वयंसेवक होने—के जुर्म में मुक़दमा चलाया गया था और इस जुर्म को साबित करने

के लिए एक फ़ार्म पेश किया गया, जिसमें हिन्दी में उनके दस्तख़त दिखाये गये थे। बिला-शक दस्तख़त उन्हीं के थे; लेकिन असल में हुआ यह कि इससे पहले उन्होंने प्रायः कभी हिन्दी में दस्तख़त नहीं किये थे। इसलिए बहुत ही कम लोग उनके हिन्दी के दस्तख़त पहचान सकते थे। अदालत में एक फटेहाल महाशय पेश किये गये, जिन्होंने हलिफ़या बयान दिया कि दस्तख़त मोतीलालजी के ही हैं। वह महाशय बिलकुल अपढ़ थे और जब उन्होंने दस्तख़तों को देखा तब वह फ़ार्म को औंधा पकड़े हुए थे। पिताजी अदालत में मेरी लड़की को बराबर अपनी गोद में लिए रहे। इससे उनके मुकद्दमे में उसे पहली मर्तबा अदालत का तजुर्बा हुआ। उस वक़्त उसकी उम्र चार बरस की थी।

मेरा जुर्म यह था कि मैंने हड़ताल कराने के लिए नोटिस बाँटे थे। उन दिनों यह कोई जुर्म न था, यद्यपि मेरा ख़्याल है कि इस वक़्त ऐसा करना जुर्म है, क्योंकि हम बड़ी तेज़ी के साथ डोमीनियन-स्टेटस (औपनिवेशिक स्वराज्य) की तरफ़ बढ़ते जा रहे हैं—फिर भी मुझे सज़ा दे दी गयी! तीन महीने बाद जब मैं, पिताजी तथा दूसरे लोगों के साथ जेल में था तब मुझे इत्तला मिली कि कोई मुक़द्दमे की जाँच करनेवाले अफ़सर इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि मुझे जो सज़ा दी गयी वह ग़लत है और इसलिए मुझे छोड़ा जायगा। मुझे इस बात से बड़ा अचरज हुआ, क्योंकि मेरे मुक़द्दमे की जाँच कराने के लिए मेरी तरफ़ से किसी ने कोई कार्रवाई

नहीं की थी। ऐसा मालूम पड़ता है कि सत्याग्रह मुल्तवी हो जाने पर जाँच करनेवाले जजों में मुकद्दमों की जाँच करने का एकाएक जोश उमड़ आया हो। मुझे पिताजी को जेल में छोड़कर बाहर जाने से बहुत दुःख हुआ।

मैंने तय कर लिया कि क़रीब-क़रीब फ़ौरन ही अहमदाबाद जाकर गांधीजी से मिलूँगा। लेकिन मेरे वहाँ पहुँचने से पहले वह गिरफ़्तार हो चुके थे। इसलिए उनसे मैं साबरमती जेल में ही जाकर मिल सका। उनके मुक़द्दमे के वक़्त मैं अदालत में मौजूद था। वह एक चिरस्मरणीय प्रसंग था और हममें से जो लोग उस वक़्त वहाँ मौजूद थे वे शायद उसे कभी भूल नहीं सकते। जज एक अंग्रेज़ था। उसने अपने व्यवहार में काफ़ी शराफ़त और सद्भावना दिखायी। अदालत में गांधीजी ने जो बयान दिया वह दिलों पर बहुत ही असर डालनेवाला था। हम लोग वहाँ से जब लौटे तब हमारे दिल हिलोरें ले रहे थे और उनके ज़िन्दा वाक्यों और उनके चमत्कारी भावों और विचारों की गहरी छाप हमारे मन पर लगी हुई थी।

मैं इलाहाबाद लौट आया। मुझे एक ऐसे वक़्त पर जेल से बाहर रहना बहुत ही सुनसान और दुःखप्रद मालूम हुआ जब मेरे इतने दोस्त और साथी जेल के सींखचों के अन्दर बन्द थे। बाहर आकर मैंने देखा कि कांग्रेस का संगठन ठीक-ठीक काम नहीं कर रहा है और मैंने उसे ठीक करने की कोशिश की। ख़ास तौर पर

मैंने विलायती कपड़े के बॉयकाट में दिलचस्पी ली। सत्याग्रह के वापस ले लिये जाने पर भी हमारे कार्यक्रम का वह हिस्सा अब भी चालू था। इलाहाबाद के कपड़े के क़रीब-क़रीब तमाम व्यापारियों ने यह वादा किया था कि वे न तो विलायती कपड़ा हिन्दुस्तान में ही किसी से ख़रीदेंगे न विलायत से मंगावेंगे। इस मतलब के लिए उन्होंने एक मण्डल भी क़ायम कर लिया था। मण्डल के क़ायदों में यह लिखा हुआ था कि जो अपना वादा तोड़ेगा उसे जुर्माने की सज़ा दी जावेगी। मैंने देखा कि कपड़े के कई बड़े-बड़े व्यापारियों ने अपना वादा तोड़ दिया है और वे विदेशों से विलायती कपड़ा मँगा रहे हैं। यह उन लोगों के साथ बहुत बड़ी नाइंसाफ़ी थी, जो अपने वादे पर डटे हुए थे। हम लोगों ने कहा-सुनी की, लेकिन कुछ नतीजा न निकला और कपड़ों के दूकानदारों का मण्डल किसी कारगर काम के लिए बिलकुल बेकार साबित हुआ। इसलिए हम लोगों ने तय किया कि वादा तोड़नेवाले दूकानदारों की दूकानों पर धरना दिया जाय। हमारे काम के लिए धरने का इशाराभर काफ़ी था। बस, जुर्माने दे दिये गये और नये सिरे से फिर वादे कर लिये गये। जुर्मानों से जो रुपया आया वह दूकानदारों के मण्डल के पास गया।

दो-तीन दिन बाद अपने कई साथियों के साथ मुझे गिरफ़्तार कर लिया गया। ये साथी वे लोग थे, जिन्होंने दूकानदारों के साथ बातचीत करने में हिस्सा लिया था। हमारे ऊपर ज़बरदस्ती रुपया ऐंठने और लोगों को डराने का जुर्म लगाया गया। मेरे ऊपर राज-

द्रोह समेत, कुछ और भी जुर्म लगाये गये। मैंने अपनी कोई भी सफ़ाई नहीं दी। अदालत में सिर्फ़ एक लम्बा बयान दिया। मुझे कम से कम तीन जुर्मों में सज़ा दी गयी, जिनमें ज़बरदस्ती रुपया ऐंठने और लोगों को दबाने के जुर्म शामिल थे। लेकिन राजद्रोह-वाला मामला नहीं चलाया गया। क्योंकि शायद यह सोचा गया कि मुझे जितनी सज़ा मिलनी चाहिए थी वह पहले ही मिल चुकी है। जहाँ तक मुझे याद है, मुझे तीन सज़ाएँ दी गयीं, जिनमें दो अठारह-अठारह महीने की थीं और एक साथ चलने को थीं। मेरा ख़्याल है कि कुल मिलाकर मुझे एक साल नौ महीने की सज़ा दी गयी थी। यह मेरी दूसरी सज़ा थी। मैं छः हफ़्ते के क़रीब जेल से बाहर रहकर फिर वहीं चला गया।

मिलन-मुहूर्त

पं. गोविन्दवल्लभ पन्त

[यह कहानी हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियों में एक है। इसके लेखक बड़े अच्छे नाटककार, उपन्यास-लेखक, कहानी-लेखक और गीत रचयिता हैं। वरमाला, राजमुकुट, अंगूर की बेटी आदि आपके प्रसिद्ध नाटक हैं। एकादशी वग़ैरह कहानियों का संग्रह है।

आप यू. पी., ज़िला गढ़वाल के रहनेवाले हैं। गोविन्दवल्लभ पन्त नाम होने से बहुत लोग भ्रम में पड़ जाते हैं कि आप ही यू. पी. के. कांग्रेसी प्रधान मंत्री हैं। मगर बात ऐसी नहीं है। आपका राजनीति से सम्बन्ध नहीं है। आप सोलह आने साहित्य-सेवी हैं। आप बड़े प्रतिभावान कलाकार हैं।]

[१]

वासवदत्ता का सौन्दर्य पूर्ण चन्द्र से भी अधिक पूर्ण था। उसकी देह कमल से अधिक कोमल थी। उसकी वाणी वीणा का तिरस्कार करती थी। उसकी लाजभरी आँखें हरिणी को लजा सकती थीं। स्वर्ग के सौन्दर्य ने अपनी रुचि के अनुसार, अपने ही कोमल हाथों से उस सजीव स्वर्ण-प्रतिमा को निर्मित किया था। ऐसी भुवन-मोहिनी शोभा—ऐसी रुचिर रूपराशि देकर भी क्या विधाता को उसे वेश्या बनाना उचित था? कीचड़ में कमल और काँटों में फूल खिलानेवाला ही जाने।

उस दिन बाल-बसन्त के सुषुमा-प्रपूर्ण प्रभात में जब कोयल के करुण-गान को छाती से लगाये मलय-सुरभि अपने मन से बह रही थी, एक श्रमण वासवदत्ता की सुविशाल अट्टालिका के द्वार पर भिक्षा के लिए आ खड़ा हुआ। अचानक वासवदत्ता की दृष्टि उस बौद्ध भिक्षु के ऊपर पड़ी। उसने उसे एक बार देखा; सौ बार देखा—देखती ही रही।

उसका नाम उपगुप्त था। सांसारिक दृष्टि से वह भिखारी था, किन्तु स्वर्गीय दृष्टि से वही राजराजेश्वर था। मन से बढ़कर श्रेष्ठ और सुविस्तृत राज्य कोई नहीं है। उपगुप्त ने अपने उसी मन के ऊपर विजय प्राप्त की थी। वह राजेश्वर था, समस्त इन्द्रियाँ उसकी प्रजा थीं।

विश्व की चञ्चलता और अशान्ति का उसे पूरा पता था। उसकी आँखें अचञ्चल और शान्त थीं। स्वर्गीय दिव्य आभा से उसका मुख-मण्डल भासमान था। काषाय वस्त्र उसे अपूर्व शोभा प्रदान कर रहे थे।

संसार को अपने सौन्दर्य से पराजित करनेवाली वासवदत्ता

उस भिक्षु के समीप हार गयी, उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो गयी। उसका कौशेय अंचल खिसक पड़ा, कवरी शिथिल हो गयी, उसमें ग्रथित पुष्पराशि मुक्त होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी।

उसने उपगुप्त के समीप आकर कहा—"भिक्षु, भिक्षा-पात्र आगे बढ़ाओ।"

भिक्षा-पात्र आगे बढ़ाकर हठात् उपगुप्त ने आश्चर्य से कहा—"किन्तु तुम्हारे दोनों हाथ रिक्त हैं, यह मुझे क्या दे सकेंगे?"

वासवदत्ता—"यह तुम्हें वह वस्तु देंगे जो तुम्हें इस संसार में कहीं नहीं मिली, तथा जो इन हाथों ने आज तक किसी और को प्रदान नहीं की।"

उपगुप्त—"अर्थात्"

वासवदत्ता—"ये हाथ रिक्त नहीं हैं।"

उपगुप्त—"मैं इन स्वर्णाभूषणों से क्या करूँगा?"

वासवदत्ता—"मैं इन स्वर्णाभूषणों की बात नहीं कहती। अबोध युवक! ये हाथ रिक्त नहीं हैं। ये प्रेम के आलिंगन से परिपूर्ण हैं। मैं वही आलिंगन तुम्हें दूँगी।—कल्पना करो भिक्षु! जिस वासवदत्ता की छाया-स्पर्श के लिए बड़े-बड़े राजराजेश्वर व्याकुल रहते हैं, वह तुम्हें प्रेम का आलिंगन देगी।"

उपगुप्त के मुख के भावों में कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ। वासवदत्ता ने फिर कहा—"भिक्षा-पात्र आगे बढ़ाओ। मैं तुम्हें भिक्षा में अपना हृदय दूँगी।"

उपगुप्त ने पूछा—"इसका अर्थ ?"

वासवदत्ता—"इसका अर्थ यही है, कि यह तुम्हारी सुकुमार देह भिक्षावृत्ति के लिए नहीं है। यह अनुपम सौन्दर्य-सुमन संसार के स्पर्श से दूर वनपथ में मुरझाने के लिए नहीं है। आओ भिक्षु, मेरे सदन में आओ। मैं विश्व की स्वामिनी हूँ, तुम्हारी दासी बनूँगी।"

उपगुप्त के वासना के प्रभाव से मुक्त-मुख-मण्डल में हँसी की एक क्षीण रेखा दिखाई दी। वह चुप रहा।

वासवदत्ता ने विकल होकर कहा—"उत्तर दो भिक्षु।"

उपगुप्त ने उत्तर दिया—"किन्तु कई कारणों से अभी समय नहीं है।"

वासवदत्ता—"तो कब ?"

उपगुप्त—"फिर कुछ दिन बाद आऊँगा।"

'फिर कुछ दिन बाद आऊँगा'—वासवदत्ता मन-ही-मन सोचने लगी—'रमणी के रूप का अपमान! एक सामान्य भिक्षु उसके सौन्दर्य का तिरस्कार करे! देखा जायगा। मैं उस दिन की प्रतीक्षा करूँगी।"

उपगुप्त द्रुत-गति से सङ्घ की ओर चला गया। वासवदत्ता स्वर्णमूर्ति की तरह उसे नीरव-निश्चल होकर देखती रही।

[२]

अपने छोटे से जीवन की एक झलक दिखाकर संध्या तीव्र गति से चली गयी थी। शारदीय शुभ्राकाश की प्राची में उदयोन्मुख चन्द्रमा की किरणें रूपोज्ज्वल चाँदनी बिछा रही थीं।

एक सघन वन के चरणों को धोती हुई कलकल-रव-रता गंगा बह रही थी। दिनभर के भिक्षा-भार मे युक्त उपगुप्त उस वन से होकर अपने मठ को लौट रहा था।

उस भयंकर हिंस्रपशु सिंह के ऊपर करुणा के अवतार भगवान बुद्ध के उपदेश का कुछ भी असर नहीं हुआ, उसकी राक्षसी प्रवृत्ति में परिवर्तन नहीं हुआ। उपगुप्त को आते देखकर सिंह बड़े वेग से उसके ऊपर झपटने को तैयार हुआ। भिक्षु ने यह देखकर अपना मस्तक झुका दिया।

एक ओर सिंह उपगुप्त को भक्षण करने के लिए तैयार है। दूसरी ओर उपगुप्त सिंह के लिए भोजन बनकर खड़ा है।

पास ही एक घनी झाड़ी थी। घनी झाड़ी के हृदय में एक छिद्र था। वसन्त की पूर्ण प्रतुला में यथाशक्ति प्रयास करने से भी पत्तियाँ उसे भर नहीं सकी थीं! उस छिद्र से एक व्याध ने वह भयानक दृश्य देख लिया।

ज्यों ही सिंह भिक्षु के ऊपर झपटने को हुआ त्यों ही व्याध ने अपने धनुष में तीर चढ़ा लिया और सामने की झाड़ी का वक्ष विदीर्ण कर सिंह को धाराशायी कर दिया।

उपगुप्त ने चकित होकर चारों ओर देखा। अपने कार्य की सफलता पर मुस्कुराता हुआ धनुषधारी व्याध उसकी ओर आ रहा था।

भिक्षु ने दुख भरे शब्दों में व्याध से कहा—"हाय!

तुमने यह क्या किया ? सिंह ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था ? अकारण निरपराध की हत्या क्यों की ?"

व्याध ने मन-ही-मन सोचा—"सिंह और निरपराध !"

अपने दयाहीन कठोर जीवन में व्याध ने पहले पहल यहीं पर करुणादेवी के दर्शन किये। वह चित्रांकित मूर्ति की तरह कुछ देर खड़ा रहा। उपगुप्त ने करुणा परिप्लावित दृष्टि उसके ऊपर निक्षेप की। आँखों ने देखा, हृदय ने हृदय का सन्देश समझ लिया।

व्याध के दोनों हाथ हिले। उसने कंधे से तूणीर निकालकर गङ्गा के वक्ष में फेंक दिया—उसकी निर्दयता गङ्गा में डूब गयी। अपने बलिष्ठ हाथों से धनुष को दो टूक कर पृथ्वी पर पटक दिया—उसकी कठोरता अन्तिम साँस लेने लगी। इसके बाद व्याध ने भिक्षु के चरणों में गिरकर कहा—"देव ! यही मेरी अन्तिम हत्या है !"

उपगुप्त ने प्रसन्न मुख से आशीर्वाद दिया। व्याध अपने नवीन संसार में प्रवेश करने के लिए चला गया। करुणा उसकी पथ-प्रदर्शिका बनी।

दयार्द्र उपगुप्त ने भूमिशायी सिंह की ओर देखा। उसकी छाती में बुरी तरह से तीर घुसा हुआ था। भिक्षु उसे बड़ी कठिनता से गंगा-तट की ओर ले गया और वहाँ जाकर उसका घाव धोने लगा।

गङ्गा के चंचल हृदय में, दशों दिशाओं में गीति-सुधा की वृष्टि करते हुए एक नाव जा रही थी। शरद की निर्मल चाँदनी अच्छी तरह से खिल गयी थी।

उपगुप्त अपने कार्य में प्रवृत्त हुआ। सिंह के जीवन की आशा बहुत कम थी, किन्तु भिक्षु दत्तचित्त होकर अपना कार्य कर रहा था।

नाव उसी ओर आने लगी। गान के स्वर अब उपगुप्त को स्पष्ट सुनाई देने लगे। उसने देखा, नाव में और कोई नहीं, वही मुक्तकुन्तला रूपसी वासवदत्ता शरच्चन्द्र से आँख लड़ाती हुई गा रही थी। भिक्षु ने सिंह की छाती का तीर बाहर निकालने को हाथ बढ़ाया, अचानक गान रुक गया। नाव भिक्षु के समीप आ लगी।

नाव में से वासवदात्ता चकित होकर चिल्लायी—"भिक्षु, यह क्या करते हो? क्या तुम्हें मालूम नहीं, जीवन लाभ कर यह भयंकर हिंस्र पशु अपने जीवनदाता को नहीं पहचान सकेगा। यह तुम्हारा सर्वनाश कर डालेगा।

उपगुप्त ने कहा—"रमणी, तुम भूल रही हो। यह उन हिंस्र पशुओं से अधिक भयंकर नहीं है, जिनका बाह्य सुन्दर है। यह उस सुन्दर रूप से अधिक भयंकर नहीं है, जिसकी ओट से मनुष्यता का शत्रु, काम उसका वध करने के लिए कान तक प्रत्यञ्चा खींचे खड़ा है। यह उस सुन्दर मोह से अधिक भयानक नहीं है, जिसने अपने बन्धन से मनुष्य को बँदी बना रक्खा है। हाथ में स्वर्ण-मुकुट लिये हुए छाया के समान निस्सार लोभ-लालसा से अधिक भीषण नहीं है, जिसके पीछे मनुष्य अपने ध्येय-धर्म को भूलकर अनन्त जन्म और जगतों में फिर रहा है।

वासवदत्ता कुछ न समझ सकी। प्रेम से अधीर होकर उसने कहा—"भिक्षु, तुम्हारी प्रतीक्षा करती रह गयी, तुम नहीं आये? क्या भूल गये थे?"

उपगुप्त—"नहीं, भूला नहीं। मैं आऊँगा, कुछ दिन बाद आऊँगा।"

वासवदत्ता—"आज ही चलो भिक्षु। इससे अधिक सुन्दर अवसर फिर कब आवेगा? आज चन्द्रमा संसार को आलोकित कर रहा है। तुम मेरे गृह का अन्धकार दूर करो।"

"ठहरो।" कहकर भिक्षु धीरे-धीरे सिंह की छाती से तीर निकालने लगा।

वासवदत्ता ने कहा—"तुमने अपने सौन्दर्य के तीर से मुझे आहत किया है। पहले मुझे प्राण-दान दो।"

उपगुप्त—"धीरज रक्खो सुन्दरी! मैं अवश्य आऊँगा।"

वासवदत्ता—"कब आओगे? जब तुम्हारी प्रतीक्षा करते-करते मेरे नेत्रों की ज्योति चली जायगी? दिन गिनते-गिनते जब समय मुझसे मेरा यौवन छीन लेगा?"

उपगुप्त ने उसकी ओर देखकर सोचा—हैं, यह क्या! इतना ज्ञान होने पर भी यह गड्ढे में गिर रही है?

वासवदत्ता ने फिर कहा—"कब आओगे?"

उपगुप्त—"इसी जीवन में।"

वासवदत्ता—"इसी जीवन में? यह बहुत बड़ी अवधि है।"

उपगुप्त—"तो फिर?"

वासवदत्ता—"इसी क्षण कहो।"

उपगुप्त—"नहीं।"

वासवदत्ता—"इसी मास?"

उपगुप्त—"इसी वर्ष आऊँगा, इसे सत्य समझो।"

वासवदत्ता—"मैं अपनी अंगुलियों पर दिन और श्वास में क्षण गिनूँगी।"

वासवदत्ता चली गयी। उपगुप्त मृतप्राय सिंह के हृदय से तीर निकालने में प्रवृत्त हुआ।

[३]

शरद गया, शिशिर गया, हेमन्त गया, किन्तु उपगुप्त नहीं आया। वासवदत्ता ने कई बार अश्रु-पूर्ण प्रतीक्षा की, किन्तु वह नहीं आया। उसने अनेक बार शृंगार किया, सब व्यर्थ हुआ।

सुमन, सुगन्धि और सञ्जीवनी को लेकर अन्त में वसन्त ऋतु आयी, फिर भी वह न आया। देखते-देखते अवधि भी बीतने को आयी, पर उपगुप्त नहीं आया। वासवदत्ता अतृप्त-अश्रान्त आँखों से उस कभी न आनेवाले की राह देखती रही। सब आये, जो नहीं आया, वह एक उपगुप्त था!

अवधि के बीतने में दो महीने रहे—एक महीना रहा। संसार के पांथनिवास में ठहरा हुआ पथिक, "वर्ष" जाने की तैयारी करने लगा। उसने शिशिर का कम्बल कन्धे पर डाल लिया था, हेमन्त का

बिस्तर बाँध लिया था, वसन्त के पुष्प-वस्त्र संभाल लिये थे; ग्रीष्म का छाता हाथ में, जूता पाँव में ले लिया था; वर्षा का रिक्त लोटा और डोर भी ले लिया था; उसने ज्योंही अपनी अन्तिम वस्तु शरद की चाँदनी को समेटने के लिए हाथ बढ़ाया, त्योंही वासवदत्ता ने विकल होकर कहा—"क्या सच मेरा प्रियतम इस साल नहीं आवेगा?"

रात्रि का समय था। समस्त पृथ्वी अन्धकार में डूबी हुई थी। वासवदत्ता का महल सहस्रों आलोक-मालाओं से जगमगा रहा था। ज्योति की किरण उसके स्वर्णाभूषणों में प्रतिफलित होकर उसके विलास-कक्ष को अपूर्व शोभा दे रही थी। असंख्य दीपक तारिकाओं के समान थे, जिनके बीच में वासवदत्ता का मुख चन्द्रमा बनकर शोभित था।

उस दिन वासवदत्ता के यहाँ उत्सव था। वह उत्सव उसके प्रेमी एक लक्षपति के स्वागतार्थ रचाया गया था। एक ओर से संगीत की, दूसरी ओर से सुरा की धाराएँ बह रही थीं। बीच में अभागा लक्षपति डूबा जा रहा था।

अर्द्ध-रात्रि के व्यतीत होने से पहले ही लक्षपति सुरा के प्रभाव से पूर्ण अचेत हो गया। उसे अपनी-परायी किसी की सुधि नहीं रही। संगीत बन्द हुआ। दासी, परिचारिका आदि सब बिदा हो गये। कक्ष में लक्षपति और वासवदत्ता के सिवा और कोई नहीं रहा। नहीं, एक और पिशाचिनी बैठी हुई थी। वह कौन थी! वेश्या वासवदत्ता की परिच्छाया।

वासवदत्ता ने चारों ओर देखकर अपने सिरहाने से एक कटार

निकाली। रात्रि के समय एक वेश्या के हाथ में कटार! यह क्या करना चाहती है? जो मुखचन्द्र संगीत सुधा की वर्षा करता है, क्या वह वज्र भी गिरा सकता है?

वह उस अचेत लक्षपति का वध करने को बढ़ी। उसका कटार-युक्त हाथ आकाश की ओर उठा, मानों उसने कहा—"सावधान! ऊपर ईश्वर है, उसका भय कर!" पापीयसी उस मूक हाथ के संकेत को न समझ सकी। उसने वह कटार लक्षपति की छाती में भोंक दी, लक्षपति ने चीत्कार छोड़ी। उसके अन्तिम शब्द थे—"हाय! छलनामयी पिशाचिनी।"

रूपवती राक्षसी—सुकुमार पिशाचिनी—अपने विजय पर प्रसन्न हुई! इसी समय बाहर से किसी ने करुण कण्ठ से पुकारा—"वासवदत्ता!"

कंपित वासवदत्ता ने गवाक्ष-द्वार मुक्त कर कहा—"कौन?" उत्तर की आवश्यकता नहीं रही। गवाक्ष-द्वार से कक्ष का आलोक उस व्यक्ति के मुखमण्डल पर पड़ा—वह श्रमण उपगुप्त था।

वासवदत्ता ने हर्ष से कहा—"भिक्षु, तुम आ गये?"

उपगुप्त—"नहीं, किन्तु शीघ्र ही आऊँगा!"

वासवदत्ता—"फिर, इस कुसमय में आने का कारण?"

उपगुप्त—"कुछ नहीं, मैं अपने विहार को जा रहा था। यहाँ पर मुझे तुम्हारी याद आयी। मैं यह जानने को उत्कण्ठित हुआ कि तुम सो रही हो या जाग रही हो।"

वासवदत्ता—"मैं जाग रही हूँ।"

उपगुप्त—"पर तुम्हारी दोनों आँखें बन्द हैं। अच्छा,—जाता हूँ, आज मुझे बहुत विलम्ब हो गया है।"

वासवदत्ता—ठहरो तुम्हें अपनी प्रतिज्ञा याद है?"

उपगुप्त—"हाँ।"

वासवदत्ता—तुमने इस वर्ष के भीतर ही मुझसे मिलने का वचन दिया है।"

उपगुप्त—"अभी वर्ष में कितने दिन शेष हैं?"

वासवदत्ता—"केवल एक पक्ष।"

उपगुप्त—"मैं अवश्य उसके भीतर ही आऊँगा।"

वासवदत्ता—"तुम झूठ बोल रहे हो, मुझसे छल कर रहे हो।"

उपगुप्त—"अमिताभ का शिष्य झूठ नहीं बोलता। छल, कपट उसका धर्म नहीं है।"

उपगुप्त रजनी के गंभीर अन्धकार में मिलकर अदृश्य हो गया। वासवदत्ता गवाक्ष-द्वार बन्द कर छिप गयी।

[४]

वासवदत्ता ने धन के लिए लक्षपति का वध किया था। भेद खुल गया। न्यायालय में विचार के लिए उपस्थित की गयी।

उसका धन उसके काम नहीं आया, उसके प्रेमी उसके काम नहीं आये, उसका अनुपम सौन्दर्य भी उसको दण्ड से मुक्त नहीं करा सका।

हतभागिनी को न्यायालय से शूली का दण्ड नहीं मिला। प्राणदण्ड उसके अशान्त जीवन के लिए शांति थी। वह दण्ड न था, आशीर्वाद था।

उसका रूप कुरूप किया गया। उसके चन्द्र-वदन की आँखें निकाल ली गयीं, नाक-कान काट दिये, उसके मृणाल-कर छिन्न किये गये, उसकी धन-सम्पत्ति सब छीन ली गयी।

जिस समय वासवदत्ता को यह भीषण दण्ड मिला, उस समय, उसने बड़े करुण स्वर से प्रार्थना की—"मैं एक सप्ताह का समय चाहती हूँ। मुझे अपने एक प्रेमी से मिलना है, वह इस सप्ताह के भीतर आ जावेगा। उसके बाद अत्यन्त प्रसन्नता से घातक के हाथ और न्याय की तलवार को अपनी देह सौंप दूँगी।"

किसी ने उसकी विनय को स्वीकार नहीं किया। घातक ने वासवदत्ता को कुरूप और कुत्सित कर राजपथ में छोड़ दिया! एक मनुष्य उसके साथ किया गया जो उच्च स्वर से समस्त प्रजा को उसके पाप की कथा सुनाता था।

कितना भयानक और बीभत्स दृश्य था? उसके क्षतों से रक्त और पीब बहता था, जिसमें मक्खियाँ भिनभिना रही थीं, हाथों से हीन होने के कारण अभागिनी उनको उड़ा भी नहीं सकती थी। वह करुण शब्दों से केवल रुदन कर रही थी।

आज से पहले जो उसके सौंदर्य के उपासक थे, वे उससे घृणा करने लगे, दूर ही से देखकर भाग जाते थे। सब कोई उसके ऊपर थूक रहे थे। पथ का एक भिक्षुक, लूला, लंगड़ा, कुष्ठ रोगी भी उसके स्पर्श से बचने का प्रयास कर रहा था।

जब उसके पास विश्व को आकर्षित करनेवाला रूप नहीं रहा,

यौवन नहीं रहा, धन नहीं रहा, जब समस्त संसार उससे घृणा कर रहा था, वह जीव-मात्र की समवेदना से दूर थी, ऐसे दुर्दिन में उपगुप्त ने आकर उसके मस्तक पर अपना हाथ रक्खा।

वासवदत्ता ने चकित होकर पुकारा—"कौन?"

उपगुप्त ने उत्तर दिया—"मैं हूँ।"

वासवदत्ता कण्ठस्वर कुछ पहचान गयी। अपना भ्रम मिटाने को उसने पूछा—"कौन, तुम उपगुप्त हो?"

उपगुप्त—"हाँ, मैं उपगुप्त ही हूँ।'

वासवदत्ता ने दीर्घ श्वास छोड़कर कहा—"लौट जाओ, तुम किसलिए आये? क्या तुम मेरा उपहास करने आये हो?"

उपगुप्त—"तुम मुझसे लौट जाने को कहती हो! मैं तुम्हारे ही कहने के अनुसार तुम्हारे पास आया हूँ। मेरे आने में विलम्ब नहीं हुआ है, अभी वर्ष पूरा होने में दो दिन शेष हैं।"

वासवदत्ता ने निराशा के स्वर में कहा—"हाय! जब मेरी देह वसन्त की सुरभि से सौरभवती थी, तब तुम न आये। जब मेरी शोभा का चंद्रमा पृथ्वी के ऊपर सुधा की वृष्टि कर रहा था, तब तुम न आये। जब घातक मेरे यौवन का अन्त करने के लिए प्रस्तर-खण्ड पर अपना शस्त्र तेज़ कर रहा था, तब भी तुम न आये। भिक्षु, क्या तुम इतने अबोध हो! मेरे सौन्दर्य का दीपक बुझ गया है, मेरी शोभा का सूर्य अस्त हो गया है! ऐसे समय तुम किसलिए आये?"

उपगुप्त—"भगिनी! मैं इन्द्रिय-सुख अथवा और किसी

स्वार्थ से प्रेरित होकर तुम्हारे पास नहीं आया हूँ। शारीरिक सौन्दर्य व्यर्थ है, तुम्हारा यह शरीर इसकी साक्षी देगा। धन भी निस्सार है, तुम्हारा अतुल ऐश्वर्य इसका उत्तर देगा। मैं तुम्हारे पास आया हूँ। कहो तुम्हें क्या कहना है?"

वासवदत्ता की आँखें खुल गयीं। उसने कहा—"मैं क्या कहूँ भिक्षु! तुम्हारे इस प्रश्न ने मेरे उत्तर को छीन लिया है। मुझे ज्ञात हो रहा है, जैसे मैं एक स्वप्न, एक छाया और एक मरीचिका के पीछे दौड़ रही थी। मुझे कुछ नहीं कहना है। तुम मेरे समीप कुछ देर खड़े रहो। तुम्हारे स्पर्श से मेरी यातना कम हो रही है, तुम्हारे वचनों से मेरा सन्ताप दूर हो रहा है। भिक्षु-श्रेष्ठ, तुम ही कुछ कहो!"

उपगुप्त—"संसार के दुखों की जड़ तृष्णा है, तुम इसी तृष्णा की दासी होकर भटकती रहीं। तुमने काम के हाथ अपना धर्म बेच दिया, तुमने धन के लिए अपने प्रेमी लक्षपति की हत्या की। आज इस दुख के समय तुम्हारे काम कोई नहीं आया।"

वासवदत्ता—"हाय! भिक्षु, तुमने इससे पहले आकर मुझे ठोकर खाने से क्यों नहीं बचाया? तुम आये, किन्तु बड़ी देर में आये।"

उपगुप्त—"कुछ विलम्ब नहीं हुआ है, अभी बहुत समय है। तुम इस समय बाह्य नेत्रों से हीन हो, किन्तु तुम्हारे अन्तर-नेत्र खुल गये हैं। उठो, भगवान बोधिसत्व का हाथ पकड़ो। वे तुम्हारे दुख को दूर करेंगे। मुक्त करेंगे।"

वासवदत्ता के मरु-संसार में आकाश-मार्ग से सुधाबिन्दु बरस

गया। उसकी सात्त्विक प्रवृत्ति जाग उठी, उसे संसार की क्षण-भंगुरता का बोध हुआ, बोध ही नहीं, अनुभव भी हुआ। उसने भिक्षु के चरणों में अपना मस्तक रखकर कहा—"मैं प्रस्तुत हूँ। मुझे ले जाओ, मेरा अंचल पकड़कर मुझे शांति के राज्य में ले जाओ।"

भिक्षु ने अपने पवित्र करों से उसका स्पर्श किया। दोनों संघ की ओर चले।

पाप-ताप से विदग्धा वासवदत्ता ने प्रायश्चित्त की सुरसरी में स्नान किया। प्रव्रज्या ग्रहण कर अपने शेष जीवन में शान्ति पायी।

फ़ा-हियान की भारत-यात्रा

स्व० महावीर प्रसादजी द्विवेदी

[इसके लेखक श्री स्व० आचार्य महावीर प्रसादजी द्विवेदी हैं। द्विवेदी जी की हिन्दी सेवा के बारे में यहाँ कुछ कहना संभव नहीं है। आपने हिन्दी भाषा को सँवारा-सुधारा है। लोगों में हिन्दी के प्रति प्रेम पैदा किया है। 'सरस्वती' पत्रिका का संपादन कर, हिन्दी में सम्पादन-कला का आदर्श आपने स्थापित किया। हिन्दी में आपने सब विषयों पर अपनी कलम चलायी है।

आप दौलतपुर, ज़िला रायबरेली (यू. पी.) के रहनेवाले थे। हिन्दी साहित्य के इतिहास में द्विवेदी-काल ही अलग है और उसका महत्त्व भी बहुत बड़ा है। आप सरल और शुद्ध हिन्दी-शैली के आचार्य थे।]

प्राचीन भारत के इतिहास का थोड़ा-बहुत पता जो हमें लगता है, वह ग्रीक और चीनी यात्रियों के यात्रा-वृत्तान्त से लगता है। ग्रीकवाले इस देश में सैनिक, शासक अथवा राजदूत बनकर आते

थे। इसी से उनके लेखों में अधिकतर भारतीय-राजनीति, शासन-पद्धति और भौगोलिक बातों ही का उल्लेख है। उन्होंने भारतीय धर्म और शास्त्रों की छान-बीन करने की विशेष परवा नहीं की। चीनी यात्रियों का कुछ और ही उद्देश था, वे विद्वान थे। उन्होंने हज़ारों मील की यात्रा इसलिए की थी कि वे बौद्धों के पवित्र स्थानों का दर्शन करें, बौद्ध धर्म की पुस्तकें एकत्र करें और उस भाषा को पढ़ें जिसमें वे पुस्तकें लिखी गयी थीं। इन यात्राओं में उनको नाना प्रकार के शारीरिक क्लेश सहने पड़े। कभी वे लूटे गये, कभी वे रास्ता भूलकर भयङ्कर स्थानों में भटकते फिरे और कभी उन्हें जङ्गली जानवरों का सामना करना पड़ा। परन्तु इतना सब होने पर भी वे केवल विद्या और धर्म-प्रेम के कारण भारतवर्ष में घूमते रहे। चीनी यात्रियों में तीन के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं।—पहला फ़ा-हियान, दूसरा संगयान और तीसरा ह्वेनसाँग। इन तीनों ने अपनी-अपनी यात्रा का वृत्तान्त लिखा है। उसका अनुवाद अंग्रेज़ी, फ्रेंच आदि यूरप की भाषाओं में हो गया है। इससे भारतीय सभ्यता का बहुत कुछ पता चलता है। प्रसिद्ध चीनी यात्रियों में फ़ा-हियान सबसे पहले भारत में आया। इसी की यात्रा का संक्षिप्त हाल यहाँ लिखा जाता है। फ़ा-हियान मध्य-चीन का निवासी था। ४०० ई० में वह अपने देश से भारत-यात्रा के लिए निकला। इस यात्रा से उसका मतलब बौद्ध-धर्म की पुस्तकों का संग्रह करना था। उन दिनों चीन से भारतवर्ष आने के दो रास्ते थे। एक रास्ता

खुतन नगर के पश्चिम से होता हुआ भारतीय सीमा पर पहुँचता था। यह रास्ता कुछ चक्कर का था। इसी से भारत और चीन के मध्य व्यापार होता था। दूसरा रास्ता जल द्वारा जावा और लङ्का के टापुओं से होकर था। यह रास्ता पहले से सीधा तो था, परन्तु पीत-समुद्र के तूफ़ानों ने इस सुगम जल-मार्ग को बड़ा भयानक बना रक्खा था। फ़ा-हियान निडर मनुष्य था। वह भारत आया तो खुतन के रास्ते ही से, परन्तु स्वदेश को लौटा लङ्का और जावा के रास्ते। फ़ा-हियान के साथ और भी कितने ही मुसाफ़िर थे। खुतन पहुँचने के लिए लाय नामक जंगल से होकर जाना पड़ता था। इस जंगल में यात्रियों को बड़ा कष्ट सहना पड़ता; कोसों पानी न मिलता। सूर्य की गर्मी ने और भी गज़ब ढाया। प्यास के मारे यात्रियों का बुरा हाल हुआ। समय-समय पर रास्ता भूल जाने के कारण भी उन पर बड़ी विपत्ति पड़ी। जब वे किसी तरह लाय नामक झील के किनारे पहुँचे तब उनकी बड़ी बुरी दशा थी। कितने ही यात्रियों के छक्के छूट गये और उन्होंने आगे बढ़ने का विचार छोड़ दिया। पर फ़ा-हियान ने हिम्मत न हारी। वह दो-चार मित्रों सहित आगे बढ़ा और नाना प्रकार के कष्टों को सहता हुआ दो मास में खुतन पहुँचा। लोगों ने खुतन में उसका अच्छा आदर सत्कार किया। उस समय खुतन एक हरा-भरा बौद्ध-राज्य था। इस समय खुतन उजड़ा है। पर हाल ही में डाक्टर स्टीन ने उसकी पूर्व समृद्धि के बहुत से चिह्न पाये हैं। प्राचीन

महलों, स्तूपों, विहारों और बाग़ों के न मालूम कितने चिह्न उन्हें मिले हैं। उन्होंने इस संबन्ध में एक पुस्तक लिखी है, जो बड़े महत्त्व की है। खुतन से फ़ा-हियान क़ाबुल आया। उस समय क़ाबुल उत्तरीय भारत के अन्तर्गत था। क़ाबुल से वहचात, गान्धार और तक्षशिला होता हुआ पेशावर पहुँचा। पेशावर में उसने एक बड़ा ऊँचा, सुन्दर और मज़बूत बौद्ध स्तूप देखा। सिन्धु नदी पार करके वह मुथुरा आया। मथुरा का हाल वह इस प्रकार वर्णन करता है—मथुरा में यमुना के दोनों किनारों पर बीस संघाराम हैं, जिनमें लगभग ३००० साधु रहते हैं। बौद्ध-धर्म का ख़ूब प्रचार है। राजपुताना के राजा बौद्ध हैं। दक्षिण की ओर जो देश है वह मध्य-देश कहलाता है। इस देश का जल-वायु न बहुत उष्ण है, न बहुत शीतल। बर्फ़ अथवा कुहरे की अधिकता नहीं है। प्रजा सुखी है। उन्हें अधिक कर नहीं देना पड़ता। शासक लोग कठोरता नहीं करते। जो लोग भूमि जोतते और बोते हैं उन्हें अपनी पैदावार का एक निश्चित भाग राजा को देना पड़ता है। लोग अपनी इच्छा के अनुसार चाहे जहाँ आ जा सकते हैं। अपराधी को उसके अपराध के गौरव-लाघव के अनुसार भारी अथवा हलका दण्ड दिया जाता है। राजा के शरीर-रक्षकों को नियत वेतन मिलता है। देश भर में जीव-हत्या नहीं होती। चाण्डालों के अतिरिक्त कोई मद्यपान नहीं करता और न कोई लहसुन और प्याज़ ही खाता है। इस देश में कोई न तो मुर्ग़ी ही पालता है

और न बतख़ ही। पालतू पशु को भी कोई नहीं बेचता। बाज़ारों में पशु-वध-शालाएँ अथवा माँस बेचने की दूकानें नहीं हैं। सौदा-सुलफ में कौड़ियों का व्यवहार होता है। केवल चाण्डाल पशु-वध करते और माँस बेचते हैं। बुद्ध भगवान के समय से यहाँ की यह प्रथा है कि राजा, महाराजा, अमीर, उमराव और बड़े आदमी विहार-निर्माण करते हैं और उनके ख़र्च के लिए भूमि इत्यादि का दान-पत्र लिख देते हैं। पीढ़ियाँ गुज़र जाती हैं, वे विहार ज्यों के त्यों विद्यमान रहते हैं। उनका ख़र्च दान दी हुई भूमि की आमदनी से चलता रहता है। उस भूमि को कोई नहीं छीनता। विहारों में रहनेवाले साधुओं को वस्त्र, भोजन और बिछौना मुफ़्त मिलता है।

मथुरा से फ़ा-हियान कन्नौज आया। वह नगर उस समय, गुप्त राजाओं की राजधानी थी। उसने कन्नौज के विषय में इसके सिवा और कुछ नहीं लिखा कि वहाँ संघाराम थे।

कोशल राज्य की प्राचीन राजधानी श्रावस्ती उजाड़ पड़ी थी। उसमें केवल दो सौ कुटुंब निवास करते थे। जैतवन, जहाँ भगवान बुद्ध ने धर्मोपदेश किया था, विहार के पास एक तालाब था, जिसका जल बहुत निर्मल था। कई बाग़ भी थे, जिनसे विहार की शोभा बहुत बढ़ गयी थी। विहार में रहनेवाले साधुओं ने फ़ा-हियान का हर्ष-पूर्वक स्वागत किया और उसकी इस कारण बहुत बड़ाई की कि उसने धर्म-प्रेम के वशीभूत होकर यात्रा की थी। भगवान बुद्ध के

जन्मस्थान कपिलवस्तु की दशा फ़ा-हियान के समय में बुरी थी। वहाँ न कोई राजा था न कोई प्रजा ; नगर प्रायः उजाड़ था। केवल थोड़े-थोड़े साधु और दस-बीस अन्य जन वहाँ थे। कुशीनगर भी, जहाँ भगवान बुद्ध की मृत्यु हुई थी, बुरी दशा में था। उस वैशाली नगर को, जहाँ बौद्ध-धर्म की पुस्तक संग्रह करने के लिए बौद्धों का दूसरा सम्मेलन हुआ था, फ़ा- हियान ने अच्छी दशा में पाया। प्रसिद्ध पाटलीपुत्र नगर के विषय में फ़ा-हियान ने लिखा है कि उसका पुराना राजमहल बड़ा विचित्र है। उसके बनाने में बड़े-बड़े पत्थरों से काम लिया गया है। मनुष्यों के हाथों से वह न बना होगा। बिना किसी आसुरी शक्ति के कौन इतने बड़े पत्थर ऊपर चढ़ा सका होगा। अवश्य अशोक ने उसे असुरों द्वारा बनवाया होगा। फ़ा-हियान का कथन है कि अशोक के स्तूप के समीप ही एक सङ्घाराम बना हुआ है जिसमें लगभग छः-सात सौ साधु रहते हैं। प्रतिवर्ष दूसरे महीने के आठवें दिन वहाँ एक उत्सव होता है। इस अवसर पर चार पहिये का एक रथ बनाया जाता है उस रथ के ऊपर पाँच खंड का एक मंदिर रक्खा जाता है। मन्दिर बाँसों का बनता है। उसके बीच में सात-आठ गज़ लम्बा एक बाँस रहता है। वही उसे साधे रहता है। मंदिर श्वेत वस्त्र से मढ़ दिया जाता है। पर उसका पिछला भाग चटकीले रंगों से रंगा रहता है। सुन्दर रेशम के शामियानों के नीचे देव-मूर्तियाँ, वस्त्राभूषण से सजा, रक्खी जाती हैं। इस प्रकार कोई बीस

रथ तैयार किये जाते हैं। उत्सव के दिन बड़ी भीड़ होती है। खेल-तमाशे होते हैं और मूर्तियों पर फूल आदि चढ़ाये जाते हैं। उस दिन बौद्ध लोग नगर में प्रवेश करते हैं। वहीं वे ठहरते हैं और सारी रात हर्ष मनाते हैं। इस अवसर पर दूर-दूर से लोग आते और उत्सव में सम्मिलित होते हैं। धनवान् लोगों ने नगर में कितने ही औषधालय खोल रक्खे हैं जहाँ दीन-दुखी, लँगड़े-लूले और अन्य असमर्थ जनों का इलाज होता है। उनको हर प्रकार की सहायता दी जाती है। वैद्य उनके रोगों की परीक्षा करके औषधि-सेवन कराते हैं। वे वहीं रहते हैं। पथ्य भी उन्हें वहीं पर मिलता है। निरोग हो जाने पर वे अपने घर चले जाते हैं।

राजगृह में पहला बौद्ध-सम्मेलन हुआ था, इसलिए उसे देखता हुआ फ़ा-हियान गया पहुँचा। गया में उसने बोधिवृक्ष और अन्य पवित्र स्थानों के दर्शन किये। वह काशी-कौशाम्बी भी गया। काशी में उस स्थान पर, जहाँ भगवान बुद्ध ने पहली बार सत्य का उपदेश दिया था, दो संघाराम थे। काशी से वह फिर पाटलीपुत्र लौट गया। फ़ा-हियान चीन से धार्मिक पुस्तकों की खोज में चला था। पाटलीपुत्र में विनयपिटक की एक प्रति उसके हाथ लग गयी। पुस्तक लेकर वह अङ्गदेश की राजधानी चम्पा होता हुआ ताम्रलिप्ति (तमलुक) पहुँचा। वहाँ उसने बौद्ध-धर्म का अच्छा प्रचार देखा। उस नगर में २४ सङ्घाराम थे। फ़ा-हियान वहाँ दो वर्ष तक रहा। यह समय उसने धर्म-पुस्तकों की नक़ल करने में खर्च किया। तत्पश्चात्

जहाज़ पर सवार होकर लगातार १४ दिन और यात्रा करके वह सिङ्गल-द्वीप पहुँचा। वहाँ से वह अनिरुद्धपुर गया। बौद्धस्तूप और बुद्ध-वृक्ष के भी उसने दर्शन किये। लंका में उसने कुछ और भी धर्म पुस्तकों का संग्रह किया। लङ्का का वर्णन वह इस प्रकार करता है—

"लङ्का में पहले बहुत कम मनुष्य रहते थे। धीरे-धीरे व्यापारी लोग यहाँ आने लगे। अन्त में वे ही यहाँ बस गये। इस प्रकार यहाँ की आबादी बढ़ी और राज्य की नींव पड़ी। यहाँ भगवान बुद्ध आये।* उन्होंने यहाँ के निवासियों को बौद्ध बनाया। लङ्का का जलवायु अच्छा है। सब्ज़ी बहुत होती है। राजधानी के उत्तर में बड़ा ऊँचा स्तूप है। समीप ही एक सङ्घाराम भी है, जिसमें ५,००० साधु रहते हैं।

फ़ा-हियान लङ्का में दो वर्ष रहा। उसे स्वदेश छोड़े बहुत वर्ष हो गये थे, इससे उसने चीन लौट जाने का विचार किया। उसी समय एक व्यापारी ने उसे चीन का बना हुआ एक पङ्खा भेंट किया। अपने देश की बनी हुई वस्तु देखकर फ़ा-हियान का जी भर आया। उसके नेत्रों से अश्रुधारा बह निकली। अन्त में उसे स्वदेश लौट जाने का एक साधन भी प्राप्त हो गया। एक जहाज़ दो-सौ यात्रियों सहित उस ओर जाता था। वह भी उसी पर बैठ गया। जहाज़ को हलका करने के लिए खलासी जहाज़ पर लदी हुई चीज़ों को समुद्र में फेंकने लगे। बहुत-सा माल असबाब फेंक

*भगवान बुद्ध लङ्का कभी नहीं गये।

दिया गया। फ़ा-हियान ने अपने सारे बर्तन तक समुद्र में इस डर के मारे फेंक दिया कि कहीं उनके मोह में पड़ने के कारण लोग उसकी अमूल्य पुस्तकें और मूर्तियाँ समुद्र के हवाले न कर दें। तेरह दिन की कठिन तपस्या के बाद एक छोटा सा टापू मिला, जहाँ जहाज़ की मरम्मत हुई। सैकड़ों कष्ट सहने पर ९० दिन बाद जहाज़ जावा द्वीप में पहुँचा। जावा में उस समय बौद्ध और ब्राह्मण धर्म, दोनों का प्रचार था।

फ़ा-हियान जावा में पाँच महीने रहा। तत्पश्चात् वह एक और जहाज़ पर सवार हुआ। चलने के एक महीने बाद इस जहाज़ का भी कील-काँटा बिगड़ा। यह देखकर मल्लाहों ने सलाह की कि जहाज़ पर श्रमण फ़ा-हियान के होने ही के कारण हम पर विपत्ति आयी है। अतएव कोई टापू मिले तो इसे वहाँ उतार दें जिसमें जहाज़ की यात्रा निर्विघ्न समाप्त हो। यह वहाँ चाहे मरे चाहे बचे। इस जहाज़ के यात्रियों में एक व्यापारी बड़ा सज्जन था। वह फ़ा-हियान से प्रेम करने लगा था। उसने मल्लाहों की इस सलाह का घोर प्रतिवाद किया। इसी के कारण बेचारा फ़ा-हियान किसी निर्जन टापू में छोड़ दिये जाने से बच गया। ८२ दिन की यात्रा के बाद दक्षिणी चीन के समुद्र तट पर वह सकुशल उतर गया और अपने को कृत-कृत्य माना।

हिन्दी साहित्य और मुसलमान कवि

श्री पदुमलाल पुन्नालाल

[यह श्री पदुमलाल पुन्नालाल 'बख़्शी' लिखित 'हिन्दी-साहित्य-विमर्श' नामक पुस्तक का एक अंश है। बख़्शी जी प्रसिद्ध साहित्य-सेवी विद्वानों में एक हैं। अच्छे आलोचक और कवि हैं। आपने सुन्दर कहानियाँ भी लिखी हैं। श्री महावीर प्र० द्विवेदी के बाद 'सरस्वती' के आप ही संपादक थे। आपकी भाषा बड़ी ही स्निग्ध और सरल प्रवाह लिये होती है। 'विश्व-साहित्य' आपका सुन्दर ग्रन्थ है।]

सभी देशों के इतिहास में भिन्न-भिन्न जातियों के पारस्परिक सङ्घर्षण के उदाहरण मिलते हैं। उनसे यही सिद्ध होता है कि ऐसे ही सङ्घर्षण से सभ्यता का विकास होता है। भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के कारण विभिन्न जातियों के विभिन्न आदर्श होते हैं। जब एक जाति का दूसरी जाति के साथ मिलन होता है तब उसका सामाजिक जीवन जटिल हो जाता है, पर इसी जटिलता से सभ्यता का विकास होता है। दो जातियों में परस्पर भिन्नता रहना चाहिए, परन्तु जब उन्हें एक ही स्थान में रहना पड़ता है तब विवश होकर उन्हें कोई एक ऐसा सम्बन्ध-सूत्र खोजना पड़ता है जिससे उस भिन्नता में भी एकता स्थापित हो जाय। यही सत्य का अन्वेषण है, बहु में एक और व्यष्टि में समष्टि।

भारतवर्ष के इतिहास में महत्त्वपूर्ण-घटना भिन्न-भिन्न जातियों का पारस्परिक सम्मिलन है। अन्य देशों की अपेक्षा भारत में

जाति-प्रेम की समस्या अधिक कठिन थी। योरप में जिन जातियों का सम्मिलन हुआ है उनमें इतनी विषमता नहीं थी। उनमें से अधिकांश की उत्पत्ति एक ही शाखा से हुई थी। इसमें सन्देह नहीं कि उसमें जातिगत विद्वेष और विरोध की मात्रा कम नहीं थी, तो भी कदाचित् उनमें वर्णभेद नहीं था। यही कारण है कि इङ्गलैण्ड में सैक्सन और नार्मन जातियों में इतना शीघ्र मिलाप हो गया। सच तो यह है कि सभी पाश्चात्य जातियों में वर्ण और शारीरिक गठन की समता है। यही नहीं, किन्तु उनके आदर्शों में भी अधिक भेद नहीं है। इसीलिए उनके पारस्परिक सम्मिलन में बाधा नहीं आती। परन्तु भारवर्तष की यह दशा नहीं है। प्राचीन काल में श्वेताङ्ग आर्यों का कृष्णकाय आदिम-निवासियों से मिलाप हुआ। फिर द्रविड़ जाति से उनका सङ्घर्षण हुआ। उस समय द्रविड़-जाति भी सभ्य थी और उनका आचार-व्यवहार आर्यों के आचार-व्यवहार से सर्वथा भिन्न था। यह विषमता दूर करने के लिए तीन ही उपाय थे। एक तो यह कि इन जातियों का नाश ही कर दिया जाय। दूसरा यह कि उन्हें वशीभूत कर उन पर अपनी सभ्यता का प्रभाव डाला जाय और तीसरा यह कि एक ऐसे बहुत सत्य का आविष्कार किया जाय यहाँ किसी भी प्रकार की विभिन्नता नहीं रह सकती। भारतीय आर्यों ने इस तीसरे उपाय का अवलम्बन किया। भारतवर्ष के इतिहास में जिन महा-पुरुषों का नाम अग्रगण्य हैं उन्होंने यही कार्य किया है। भगवान

बुद्ध ने मैत्री की शिक्षा देकर भारत के राष्ट्रीय जीवन में एकता का प्रचार किया। जब भारत पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ तब देश में एक नये आन्दोलन का जन्म हुआ। उस आन्दोलन का उद्देश्य था जातीय और धार्मिक विरोध को भूलकर नारायण के प्रेम में सभी नरों को भ्रातृ-रूप से ग्रहण करना। हिन्दी-साहित्य पर इस आन्दोलन का जो प्रभाव पड़ा उसकी चर्चा यहाँ की जाती है।

भारत पर मुसलमानों का आधिपत्य स्थापित नहीं हो गया। हिन्दू-जाति ने—विशेष कर राजपूतों और मरहठों ने—बड़ी दृढ़ता से उनका आक्रमण रोका था। मुसलमानों का पहला आक्रमण सन् ६६४ ईस्वी में हुआ। उस समय मुसलमान मुलतान तक ही आकर लौट गये। और उनका आक्रमण सन् ७११ में फिर हुआ। तब उन्होंने सिन्धु देश पर अधिकार कर लिया था। परन्तु कुछ समय के बाद राजपूतों ने उसको वहाँ से हटा दिया। इसके बाद महमूद गज़नवी का आक्रमण हुआ। उस समय भी मुसलमानों का प्रभुत्व यहाँ स्थापित नहीं हुआ। सन् ११९३ से मुसलमानों का शासन-युग प्रारम्भ हुआ। उत्तर भारत में उनका साम्राज्य स्थापित हो जाने पर भी दक्षिण में हिन्दू-साम्राज्य बना रहा। विजयनगर का पतन होने पर कुछ समय के लिए समग्र भारत में हिन्दू-साम्राज्य का लोप हो गया। परन्तु सत्रहवीं सदी में मरहठे प्रबल हुए और अन्त में फिर हिन्दू साम्राज्य की स्थापना की। इसी समय अंग्रेज़ों का प्रभुत्व बढ़ा और कुछ ही

समय में हिन्दू और मुसलमान दोनों को अंग्रेज़ों का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा।

यद्यपि भारतवर्ष में मुसलमानों का साम्राज्य सन् ११९३ से प्रारंभ होता है, तथापि कितने ही मुसलमान साधक और फ़कीर इन आक्रमणकारियों के पहले ही यहाँ आ चुके थे। आठवीं सदी में जब मुसलमानों ने भारत का एक भाग विजय कर लिया तब तो हिन्दुओं और मुसलमानों में घनिष्ठता हो गयी। उस समय मुसलमानों का अभ्युदय बढ़ रहा था। बग़दाद विद्या का केन्द्र हो गया था। कितने ही भारतीय विद्वान ख़लीफ़ा के दरबार तक जा पहुँचे। वहाँ उन लोगों की बदौलत संस्कृत के कितने ही ग्रन्थरत्नों का अनुवाद अरबी भाषा में हुआ। भारतवर्ष में मुसलमानों ने केवल अपनी प्रभुता ही स्थापित नहीं की, किन्तु अपने धर्म का भी प्रचार किया। तभी हिन्दू और मुसलमान का विरोध आरम्भ हुआ। इस विरोध को दूर करने का सब से अधिक प्रयत्न किया कबीर ने। कबीर ने देखा कि भारतवर्ष में हिन्दू और मुसलमान का विरोध बिलकुल अस्वाभाविक है।

कोई हिन्दू कोई तुरुक कहावै एक ज़मीं पर रहिये।
वही महादेव वही मुहम्मद ब्रह्मा आदम कहिये॥*

---

* कोई हिन्दू कहलाता है तो कोई मुसलमान। सभी इसी पृथ्वी पर रहते हैं और भाई-भाई हैं। इसी प्रकार से ईश्वर भी एक है। महादेव, मुहम्मद, ब्रह्मा, आदम (आदि पुरुष) आदि सब उसी के पर्यायवाची शब्द हैं।

वेद किताब पढैं वे कुतबा वे मौलाना वे पांडे ।
विगत विगत कै नाम धरायो यक माटी के भांडे ॥†

कबीर हिन्दू और मुसलमान दोनों का हाथ पकड़कर एक ही पथ पर ले जाना चाहते थे। परन्तु दोनों इसका विरोध करते थे। कबीर को उनकी इस मूढ़ता—इस धर्मान्धता—पर आश्चर्य होता था। उन्होंने देखा कि इस विरोधाग्नि में पड़कर दोनों नष्ट हो जायँगे।

साधो देखो जग बौराना ।
सांच कहो तो मारन धावै झूठे जग पतियाना ।
हिन्दू कहत है राम हमारा, मुसलमान रहिमाना ॥
आपस में दोऊ लरि लरि मूये मरम न काहू जाना ।*

स्वदेश की कल्याण-कामना से प्रेरित हो कबीर उस पथ को खोज निकालना चाहते थे जिस पर हिन्दू और मुसलमान दोनों चलकर अपनी आत्मोन्नति कर सकें। परन्तु हिन्दू एक ओर जा रहे थे तो मुसलमान ठीक उसके विपरीत जा रहे थे। कबीर ने उनको चेतावनी दी।

---

† वे (हिन्दू) वेद को पढ़ते हैं (धर्म पुस्तक मानते हैं) वे (मुसलमान) कुरान को। वे (हिन्दू) पंडित कहलाते हैं तो वे (मुसलमान) मौलवी। सभी एक हैं, हाँ नाम का अन्तर अवश्य है। जिस प्रकार भाँति-भाँति के बर्तन (मिट्टी के बर्तन) होते हैं, लेकिन वे बने हुए तो सब मिट्टी के ही हैं।

* हे सन्तो, देखो, यह कैसा बावला (पागल) संसार है कि यदि सच कहो तो मारने दौड़ता है (सत्य का अपमान करता है) और झूठ बोलनेवालों का विश्वास। हिन्दू राम को अपना ईश्वर बताते हैं तो मुसलमान रहीम को। लेकिन यथार्थ में दोनों हैं तो एक ही। पर इस मर्म को किसी ने नहीं समझा और आपस में लड़कर मरते मारते हैं।

अरे इन दुहू राह न पाई।
हिन्दू की हिन्दुवाई देखी तुरकन की तुरकाई।
कहैं कबीर सुनौ भाई साधो कौन राह ह्वै जाई ॥*

इसलिए कबीर ने हिन्दू की हिन्दुवाई और तुर्क की तुरकाई दोनों को छोड़ दिया। उन्होंने केवल मनुष्यत्व को ग्रहण किया—

हिन्दू कहूँ तो मैं नहीं मुसलमान भी नाहिं। †

उन्होंने दोनों को एक ही दृष्टि से देखा—

समदृष्टि सतगुरु किया मेटा भरम विकार।
जहँ देखौं तहँ एक ही साहेब का दीदार ॥
सम-दृष्टि तब जानिये सीतल समता होय।
सब जीवन की आत्मा लखें एक-सी सोय ॥ ‡

कबीर का प्रयास व्यर्थ नहीं हुआ। हिन्दू और मुसलमान सम्मिलन की ओर अग्रसर हुए। भाषा के क्षेत्र में इनका सम्मिलन बहुत पहले हो चुका था। अमीर खुसरो ने इस एकता की नींव को दृढ़ किया। हिन्दी में काग़ज़-पत्र, शादी-ब्याह, ख़त-पत्र आदि शब्द उसी सम्मिलन के सूचक हैं। इसके बाद जायसी ने मुसलमानों को हिन्दी-साहित्य में सौन्दर्य का दर्शन कराया।

---

* मैंने दोनों मार्ग देखे, पर किसी से मुझे सन्तोष न हुआ। हिन्दुओं का हिन्दूपन और तुरकों का इस्लाम। कबीरदासजी कहते हैं कि कौन-सा रास्ता ग्रहण करूँ?

† कबीर कहते हैं कि अगर मुझसे पूछा जाय, तो मैं यही कहूँगा कि मैं न तो मुसलमान हूँ और न हिन्दू।

‡ उस ईश्वर को धन्यवाद है कि जिसने समदृष्टि से देखना सिखाया और

तुरकी अरबी हिन्दुवी, भाषा जेती आहि।
जामें मारग प्रेम का, सबै सराहैं ताहि ॥ *

मलिक मुहम्मद जायसी केवल कवि नहीं थे, साधक भी थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों उनकी पूजा करते थे। कितने ही लोग उनके शिष्य थे। अतएव यह कहना नहीं होगा कि हिन्दी भाषा में रचना कर उन्होंने मुसलमानों को हिन्दू-जाति से प्रेम करने की शिक्षा दी। जायसी के धार्मिक विचारों का आभास उनके अखरावट से मिलता है। अपने धर्म पर अविचल रहकर भी कोई दूसरे धर्म को श्रद्धा की दृष्टि से देख सकता है। यही नहीं, किन्तु वह उसमें सत्य का यथार्थ और अभिन्न रूप देख सकता है। यह जायसी की कृति से प्रकट होता है। हिन्दू भी मुसलमानों की तरह ईश्वर की संतान हैं। यही नहीं, उनका भी धर्म ईश्वर-प्रदत्त है। अतएव वे हमारी घृणा के पात्र नहीं हैं।

तिन्ह संतति उपराजा, भाँतिहि-भाँति कुलीन।
हिन्दू तुरुक दुनउ भये, अपने-अपने दीन ॥ †

भ्रम (अन्धकार) दूर किया। अब मुझे सब जगह उसी ईश्वर का दर्शन मिल रहा है। समदृष्टि तभी समझना चाहिए जब शील आ जाय और ऊँच-नीच का भाव मिट जाय। सभी जीवधारियों की आत्मा अपनी-सी जान पड़ने लगे।

* तुर्की, अरबी, हिन्दी जितनी भी भाषाएँ हैं, जिसमें प्रेम का सच्चा मार्ग बताया गया है उसी भाषा की सब लोग प्रशंसा करते हैं।

† हिन्दू और मुसलमान सब अपने अपने धर्म में श्रेष्ठ और सुशील हैं दोनों धर्मावलंबियों ने राज्य पद प्राप्त किया है। फिर कौन छोटा और कौन बड़ा? यह पृथक्त्व कैसा?

जायसी ने जो शिक्षाएँ दी हैं उनमें ऐसी कोई शिक्षा नहीं है जिसे कोई हिन्दू स्वीकार न कर सके।

जिस आन्दोलन के प्रवर्तक कबीर थे उसकी पुष्टि जायसी के समान मुसलमान साधकों और फ़कीरों ने की। भारत में राजकीय-सत्ता स्थापित करने के लिए हिन्दू और मुसलमान दोनों प्रयत्न करते रहे। परन्तु देश में दोनों का स्थान निर्दिष्ट हो चुका था। भारत से मुसलमानों का उतना ही सम्बन्ध हो गया जितना हिन्दुओं का। प्रतिद्वन्द्वी होने पर भी इन दोनों के धर्मों का प्रवेश भारतीय सभ्यता में हो गया। हिन्दी और फ़ारसी से उर्दू की सृष्टि हुई। उसी प्रकार हिन्दू और मुसलमान की कला ने मध्य-युग में एक नवीन भारतीय कला की सृष्टि की। देश में शांति भी स्थापित हुई। कृषकों का कार्य निर्विघ्न हो गया। व्यवसाय और वाणिज्य की वृद्धि होने लगी। देश में नवीन भाव का यथेष्ट प्रचार हो गया। अकबर के राजत्व-काल में इसका पूरा प्रभाव प्रकट हुआ। उसके शासन-काल में जिस साहित्य और कला की सृष्टि हुई उसमें हिन्दू और मुसलमान का व्यवधान नहीं था। अकबर के महामन्त्री अबुलफ़ज़ल ने एक हिन्दू मंदिर के लिए जो लेख उत्कीर्ण कराया था उसका भावार्थ यह है—"हे ईश्वर, सभी देव-मन्दिरों में मनुष्य तुम्हीं को खोजते हैं, सभी भाषाओं में मनुष्य तुम्हीं को पुकारते हैं। विश्व-ब्रह्मवाद तुम्हीं हो और मुसलमान-धर्म भी तुम्हीं हो। सभी धर्म एक ही बात कहते हैं कि तुम एक हो, तुम अद्वितीय हो। मुसलमान

मस्जिदों में तुम्हारी प्रार्थना करते हैं और ईसाई गिरजाघरों में तुम्हारे लिए घण्टा बजाते हैं। एक दिन मैं मस्जिद जाता हूँ और एक दिन गिरजा। पर मन्दिर-मन्दिर में मैं तुम्हीं को खोजता हूँ। तुम्हारे शिष्यों के लिए सत्य न तो प्राचीन है और न नवीन।" अबुलफ़जल का यह उद्‌गार मध्य-युग का नव सन्देश था। हिन्दी में सूरदास और तुलसीदास ने अपने युग को इसी भावना से प्रेरित हो मनुष्य-जीवन में श्रेष्ठ आदर्श दिखलाया। इसी भाव को ग्रहण कर मुसलमानों में रहीम ने कविता लिखी। निम्न लिखित पद्यों से प्रकट हो जाता है कि रहीम ने हिन्दू भाव को कितना अपना लिया था।

अनुचित वचन न मानिये, जदपि गुराइस गाढ़ि।
है रहीम रघुनाथ ते, सुजस भरत को बाढ़ि॥*
गहि सरनागति राम की, भव-सागर की नाव।
रहिमन जगत उधार कर, और न कछू उपाव॥ †
जो रहीम करिबो हुतो, ब्रज को इहै हवाल।
तौ काहे कर पर धर्‌यो, गोबर्धन गोपाल॥ ‡

---

* बड़े आदमी की आज्ञा यदि वह अनुचित हो तो न माननी चाहिए। क्योंकि रहीम कवि कहते हैं राम ने पिता की आज्ञा मानी और बन गये, लेकिन भरत के माता की आज्ञा नहीं मानी, राज्य नहीं लिया जिससे उन्हें राम की अपेक्षा अधिक मान मिला।

† श्रीरामनामरूपी नाव की शरण में जाओ जो भवसागर से पार लगानेवाली है। इस संसार से उद्धार पाने का और कोई दूसरा उपाय नहीं है।

‡ गोपियाँ कृष्ण के विरह में कहती हैं कि हे कृष्ण, यदि ब्रज की

मुग़लों के शासन-काल में हिन्दी-साहित्य की जो श्री वृद्धि हुई उसका कारण यही है कि उस समय मुसलमान भारत को स्वदेश समझने लगे थे। न तो हिन्दुओं ने तत्कालीन राज-भाषा की उपेक्षा की और न मुसलमानों ने हिन्दू-साहित्य की। उस समय वैष्णव-सम्प्रदाय के आचार्यों ने धार्मिक विरोध को भी हटाने की चेष्टा की। कितने ही मुसलमान साधक श्रीकृष्ण के उपासक हो गये। इनमें रसखान की भक्ति ने हिन्दी में रस की धारा बहा दी है। उनका निम्न-लिखित पद्य बड़ा प्रसिद्ध है—

मानुस हों तो वही रसखान बसौं मिलि गोकुल गोप गुवारन।
जो पशु होउँ कहा बसु मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मझारन॥
पाहन हों तो वही गिरि को जु कियो व्रजछत्र पुरन्दर कारन।
जो खग होउँ बसेरो करौं वही कालिन्दी कूल कदंब की डारन॥*

मुसलमानों के लिए यह प्रेम कम साहस का काम नहीं था। ताज का यह कथन सर्वथा उचित था—

यही दशा करनी थी (हमें विरह दुख देना था) तो फिर गोवर्धन पर्वत को हाथ पर धारण करके हमारी क्यों रक्षा की?

* रसखान कृष्ण के अनन्य भक्त थे। वे कहते हैं कि हे प्रभो, अगर मुझे मनुष्य का जन्म दो तो वहीं भेजना जहाँ गोप-गोपिकाओं के साथ गोपाल खेले थे। मैं भी गोकुल में उन्हीं के साथ मिलकर रहूँगा। जो पशु बनाओ तो मेरा कोई वश नहीं; मैं नन्द की गायों के साथ चरूँगा। पत्थर बनाना तो उसी पहाड़ का जिसे कृष्ण ने अपने हाथों पर इन्द्र के कारण धारण किया था और जो पक्षी होऊँगा तो जमुना नदी के किनारे कदम्ब के पेड़ों पर बास करूँगा।

सुनौ दिल जानी मेरे दिल की कहानी तुम ।
इस्म ही बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं ॥
देव-पूजा ठानी मैं नमाज हूँ भुलानी, तजे ।
कलमा कुरान सारे गुनन गहूँगी मैं ॥
श्यामल सलोना सिरताज सिर कुलेदार ।
तेरे नेह दाग में निदाघ ह्वै दहूँगी मैं ॥
नन्द के कुमार कुरबान ताणी सूरत पै ।
तांण नाल प्यारे हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं ॥*

इसी प्रेम से प्रेरित हो कितने ही मुसलमान कवियों ने हिन्दी-साहित्य को अपनी रचनाओं से अलंकृत किया है ।

राजनीति के क्षेत्र में हिन्दू और मुसलमान जाति का विरोध नहीं दूर हुआ । समाज के क्षेत्र में भी दोनों का संघर्षण बना रहा । तो भी साहित्य के क्षेत्र में दोनों ने सत्य को ग्रहण करने में संकोच नहीं किया । इसी चिरन्तन सत्य के आधार पर—इसी ऐक्यमूलक आध्यात्मिक आदर्श की भित्ति पर—भारत ने अपनी जातीयता की स्थापना की है । इस जातीयता में सभी जातियाँ अपने अस्तित्व को स्थिर रख सकती हैं । इसमें सम्मिलित होने के लिए हिन्दुओं ने अपना हिन्दुत्व नहीं छोड़ा और न मुसलमानों

---

* इस्म - नाम । तजना - छोड़ना । गुनन - गुणों को । कुलेदार - कलगी । दाग - आग । निदाघ - गरमी । दहूँगी - जलूँगी । कुरबान - निछावर । ताणी - तेरे । तांण नाल - तेरे लिए ।

ने अपने धार्मिक और सामाजिक संस्कारों का परित्याग किया। परन्तु इन दोनों का मिलन अनन्य सत्य के मंदिर में हुआ, जहाँ बाह्य आचार-व्यवहार और कृत्रिम जाति-भेद के बन्धन से मनुष्य जाति की एकता भिन्न नहीं होती। यह एकता काल्पनिक नहीं है। यह हिन्दू और मुसलान के जीवन में अभी तक काम कर रही है। सत्य की सीमा संकुचित कर देने से ही इनमें परस्पर विरोध होता है। इसीलिए उसी को अपना लक्ष्य मानकर भारत ने अपनी जातीयता की सृष्टि की है। यहाँ एक ओर समाज में आचार विचार की रचना होती आयी है और दूसरी ओर मनुष्य की एकता को लोग स्वीकार करते आये हैं। एक ओर भिन्न-भिन्न वर्णों में एक ही पंक्ति में बैठकर खाने पीने तक का निषेध किया गया है और दूसरी ओर आत्मवत् सर्वभूतेषु की शिक्षा दी गयी है। आधुनिक युग में जातिभेद की जो समस्या उपस्थित हो गयी है उसके सम्बन्ध में रवीन्द्र बाबू ने बिलकुल ठीक लिखा है कि आजकल जाति-विद्वेष खूब बढ़ गया है। सभ्य जाति अपनी शक्ति के मद से उन्मत्त हो निर्बल जातियों पर अत्याचार करने में संकोच नहीं करती। अभी मनुष्यत्व का विचार उनके लिए उपहासास्पद है। परन्तु जब जातीय स्वातन्त्र्य, परजाति-विद्वेष और स्वार्थ-सिद्धि का बीभत्स रूप दृष्टिगोचर होने लगेगा तब मनुष्य यह समझेगा कि मनुष्य की यथार्थ मुक्ति किसमें है। नर में नारायण को उपलब्ध करने में ही उसकी मुक्ति है, इसी में उसका कल्याण है।

मुग़लों के समय का भारत

पं. सुन्दरलाल जी

[पं. सुन्दरलाल जी का नाम तो बहुत प्रसिद्ध है। आप इलाहाबाद (यू. पी.) के रहनेवाले हैं। आपका जन्म सन् १८७७ ई० में हुआ था। पंडितजी भारतीय इतिहास और संस्कृति के महान विद्वान हैं। मुस्लिम संस्कृति और धार्मिक विषयों का आपका अधिकारपूर्ण अध्ययन है। 'हज़रत मुहम्मद' साहब की जीवनी आप ही की लिखी है—जिसे दक्षिण भारत के लोग पढ़ चुके हैं।

पंडित सुंदरलाल जी सिर्फ़ विद्वान ही नहीं हैं—वरन् एक ऊँचे दर्जे के वक्ता तथा लेखक हैं। आपका जोशीला व्याख्यान सुनने लायक ही होता है। आप सन् १९३५ में सभा के पदवीदान समारंभ पर व्याख्यान देने मद्रास पधारे थे।

आप यू. पी. के प्रसिद्ध कांग्रेस नेता और देशभक्त हैं। आप सफल सम्पादक भी हैं। 'भविष्य' नाम का साप्ताहिक पत्र जब आप निकालते थे तो उसकी धूम रहती थी। अभी आप भारतीय संस्कृति पर एक विस्तृत ग्रंथ लिख रहे हैं। आपकी भाषा हिन्दुस्तानी शैली की होती है।

आप "भारत में अंग्रेज़ी राज्य" पुस्तक के लेखक हैं जो पुस्तक सरकार द्वारा ज़प्त हो गयी थी।]

इतिहास इस बात का साक्षी है कि ईसा की १६ वीं शताब्दी से लेकर १८ वीं शताब्दी तक दिल्ली के मुग़ल साम्राज्य ने भारत की राष्ट्रीय शक्ति की कमी को ख़ासी सुन्दरता के साथ पूरा किया है। निस्सन्देह राजनीति, सामाजिक व्यवस्था, उद्योग-धन्धे, कला-कौशल, संवृद्धि, शिक्षा और सुशासन की दृष्टि से भारत के समस्त इतिहास में मुग़ल साम्राज्य का समय सबसे अधिक गौरवान्वित समय था।

युद्ध-विद्या, सैनिक व्यवस्था और क़िलेबन्दी के कामों में भी जो उन्नति मुग़लों के समय में थी उतनी पहले कभी न हुई थी। बन्दूकों और तोपों का रिवाज समस्त भारत में अधिकतर मुग़लों ही के समय से फैला।

उन्होंने बुद्धिमता के साथ ग्राम-शासन की पुरानी पद्धति को और लगान वसूल करने के पुराने हिन्दुओं के तरीके को ज्यों का त्यों जारी रखा। किसानों तथा रैयत को मुग़ल सम्राटों के समय में विशेष सहायता दी जाती थी और उनकी हर प्रकार रक्षा की जाती थी। जिस समय कोई नया सूबेदार नियुक्त किया जाता था तो उसे और बातों के साथ-साथ यह आदेश दिया जाता था—

"रैयत को इस बात के लिए प्रोत्साहन देना कि वे कृषि को उन्नति दें और अपने पूरे दिल से खेतीबारी को बढ़ायें। कोई चीज़ उनसे ज़बरदस्ती नहीं छीनना। याद रखना कि रैयत ही राज्य की आमदनी का एकमात्र स्थायी स्रोत हैं। इस बात का ख़्याल रखना कि बलवान निर्बलों पर अत्याचार न करे। तमाम अत्याचारियों को दबाकर रखना।"

प्रत्येक प्रान्त में सूबेदार अथवा नाज़िम के अतिरिक्त एक दीवाना होता था। सूबेदार का काम फ़ौज का प्रबन्ध, शासन प्रबन्ध और न्याय प्रबन्ध होता था। दीवान का काम लगान वसूल करना था। प्रत्येक की नियुक्त की सनद में लिखा होता था कि उसका सबसे मुख्य काम "खेती के काम को और ग्रामों की आबादी को

बढ़ाना है।" लगान की वसूली में खेतिहर के साथ किसी प्रकार की ज़बर्दस्ती की इजाज़त न थी। एक हिदायत प्रत्येक सनद में यह होती थी कि—

"यदि किसी आमिल के इलाक़े में कई साल का लगाम भी बक़ाया चला आता है, तो तुम उस रक़म को किसानों से बहुत आसान किश्तों में वसूल करना, यानी बक़ाया का केवल पाँच फ़ी-सदी हर फ़सल के मौक़े पर वसूल करना।"

इसी प्रकार फ़ौजदारों, थानेदारों, करोड़ियों, तहसीलदारों इत्यादि सबको हिदायत होती थी कि किसानों को किसी तरह का कष्ट न पहुँचावें।

यदुनाथ सरकार, मुग़ल साम्राज्य के दिनों के भारतीय किसानों की फ्रान्स और आयर्लैंड के किसानों से तुलना करते हुए लिखते हैं—

"किन्तु अन्तर यह था कि अंग्रेज़ों के आने से पहले (मुग़ल भारत में) किसी किसान को लगान अदा न करने के कारण ज़मीन से बेदख़ल न किया जाता था, कोई किसान भूखा न मरता था।

"बटाई की प्रणाली के अनुसार चूँकि लगान पैदावर की शकल में लिया जाता था, किसान को बड़ा फ़ायदा रहता था, क्योंकि लगान की अदायगी हर साल की असली पैदावार पर निर्भर होती थी, इसके विपरीत आजकल का लगान रुपयों की शकल में नियत होता है, जिसका उस वर्ष की पैदावार के साथ कोई संबन्ध नहीं होता।"

प्रत्येक मुग़ल सम्राट की ओर से तमाम सूबों के कर्मचारियों

और सामन्त नरेशों के नाम बार-बार इस विषय की आज्ञाएँ प्रकाशित होती रहती थीं कि किसान के साथ लगान की वसूली में अथवा किसी मामले में किसी तरह की ज़बरदस्ती नहीं की जाय और कोई नाजायज़ रक़म या 'अबवाब' उनसे वसूल न किया जाय।

इतिहास-लेखक फ्रेडरिक आगस्टस लिखता है कि—

"जब कभी सम्राट की सेना ग्रामों में से होकर निकलती थी और उनके कूच के कारण किसान के माल को हानि पहुँचती थी या उसकी बरबादी होती थी, तो विश्वस्त आदमी इस बात के लिए नियुक्त किये जाते थे कि वे उस हानि या बरबादी के मूल्य का ठीक-ठीक तख़मीना लगाएँ। तख़मीना लगाने के बाद ये लोग या तो उस रक़म को किसान के सरकारी लगान में से कम कर देते थे या व्यर्थ की शिकायतों और बहसों से बचने के लिए तत्क्षण किसानों के दावे के अनुसार उन्हें रक़म अदा कर देते थे।"

सन् १६७३ में सम्राट औरंगज़ेब ने अपने साम्राज्य भर में एक एलान प्रकाशित किया, जिसमें ५४ चीज़ों की एक सूची दी गयी थी और लिखा था कि इनमें से किसी के ऊपर प्रजा से किसी तरह का महसूल आदि न लिया जाय। इसी ऐलान में सम्राट ने राज-कर्मचारियों तथा ज़मीन्दारों को आज्ञा दी कि किसी किसान से किसी तरह की भी 'भेंट या बेगार' न ली जाय। इन ५४ चीज़ों में मछली, तेल, घी, दूध, दही, उपले, तरकारियाँ, घास, ईन्धन, मिट्टी के बरतन, ऊँट, गाड़ियाँ, चरागाह, सड़कों की रहदारी

का महसूल (टोल), नदियों के घाटों का महसूल, रूई, गन्ना, रस, कपड़े की छपाई, इत्यादि भी शामिल थीं। इसी ऐलान में लिखा था कि गंगा अथवा अन्य तीर्थों में नहानेवालों से अथवा मरे हुए लोगों की अस्थियाँ गंगा में ले जानेवाले हिन्दुओं से किसी तरह का महसूल न लिया जाय।

इस तरह की आज्ञाएँ सम्राट अकबर के समय से लेकर बराबर प्रकाशित होती रहती थीं। प्रत्येक नये सम्राट को अपने तख़्त पर बैठने के समय अथवा कभी-कभी शासन-काल में एक से अधिक बार उन्हें इसलिए दोहराते रहना अथवा कभी-कभी बदलना पड़ता था, ताकि कोई सामन्त अथवा कर्मचारी इस विषय में असावधान न हो जाय। एक जगह पर यदुनाथ सरकार लिखते हैं—

"उस समय के इतिहासों और पत्रों से स्पष्ट है कि मुग़ल साम्राज्य के अधिराज की नीति यही होती थी कि रैयत पर किसी तरह का अत्याचार न होने पाये। यह बात साबित की जा सकती है कि यह नीति केवल एक शुभकामना ही न थी, वरन् यही उस समय की सच्ची परिस्थिति थी। शाहजहाँ और औरंगज़ेब के समय की अनेक ऐसी घटनाएँ उस समय के इतिहास में मिलती हैं, जिनमें कि माल के मोहकमे के किसी कर्मचारी, या किसी प्रान्त के सूबेदार की सख़्ती या ज़बर्दस्ती की प्रजा की ओर से कोई शिकायत ज्योंही की, कि सम्राट के कानों तक पहुँची, तुरन्त उन राज-कर्मचारियों को अथवा उन सूबेदारों तक को बरख़ास्त कर दिया गया।"

पूर्वोक्त लेखक ने एक फ़ारसी हस्तलिपि से मिसाल के तौर पर एक घटना उद्धृत की है, जिससे साफ़ पता चलता है कि शाहजहाँ किसानों के साथ इन्साफ़ करने के लिए कितना उत्सुक था।

एक दिन शाहजहाँ साम्राज्य के माल के काग़ज़ात का निरीक्षण कर रहा था। उसने देखा कि किसी गाँव की उस साल की मालगुज़ारी पिछले वर्ष की मालगुज़ारी से कई हज़ार अधिक दर्ज़ है। तुरन्त माल के मोहकमे के प्रधान अफ़सर दीवाने-आला सादुल्ला खाँ को तलब किया गया। सम्राट ने दीवान से मालगुज़ारी के बढ़ने का कारण पूछा। तहक़ीक़ात कराने पर मालूम हुआ कि उस साल गाँव के पास की नदी कुछ पीछे को हट गयी थी, जिससे गाँव की ज़मीन बढ़ गयी थी। इसलिए लगान बढ़ाया गया था। सम्राट ने फिर दरियाफ़्त किया कि जो ज़मीन बढ़ी है, वह माफ़ूली ज़मीन के पास की है या माफ़ी की ज़मीन के पास की। मालूम हुआ कि पास की ज़मीन माफ़ी की ज़मीन है। यह बात सुनते ही शाहजहाँ गुस्से में भरकर चिल्ला पड़ा—

"उस जगह के यतीमों, बेवाओं और ग़रीबों की आहोज़ारी पर वहाँ की ज़मीन का पानी सूख गया हैं। यह उनको ख़ुदा की एक देन थी, तुमने उसे राज्य के लिए छीनने का साहस किया! यदि ख़ुदा के बन्दों के लिए दया का भाव मुझे न रोकता तो मैं उस दूसरे शैतान को यानी उस ज़ालिम फ़ौजदार को, जिसने इस नयी ज़मीन से लगान वसूल किया है, फ़ाँसी का हुक्म देता। अब उसे

केवल बरख़ास्त कर देना उसके लिए काफ़ी सज़ा होगी, ताकि दूसरे लोग भी आगाह हो जायँ, और इस तरह की बेइन्साफ़ी की बदकारी न करें। हुकुम जारी कर दो कि तुरन्त जितना ज़्यादा लगान वसूल किया गया है वह सब जिन किसानों से लिया गया है, उन्हें फ़ौरन् वापस कर दिया जाय।"

सन् १६६२ में उड़ीसा प्रान्त के दीवान मोहम्मद हाशिम ने कुछ नये 'करोड़ी' (लगान वसूल करनेवाले कर्मचारी) इसलिए नियुक्त किये, क्योंकि इन लोगों ने पुराने करोड़ियों की अपेक्षा अपने इलाकों से अधिक लगान वसूल करके भेजने का वादा किया। तुरन्त समाचार मिलते ही मोहम्मद हाशिम को बरख़ास्त कर दिया गया।

'अबवाब'की वसूली के विरुद्ध आज्ञाएँ फ़ीरोज़शाह तुग़लक (सन् १३७५) के समय से सम्राट अकबर (१५९०) के समय तक और उसके बाद लगभग प्रत्येक मुग़ल सम्राट के समय में बराबर जारी होती रहती थीं।

मुग़ल सम्राट अपनी विशाल प्रजा के सुख-दुख से अपरिचित भी न रहते थे। मुग़ल समय में 'वाके नवीसों', 'सवाने नवीसों', 'अख़बार नवीसों', 'ख़ुफ़िया नवीसों' इत्यादि का एक ज़बर्दस्त मोहकमा था, जिसके ज़रिये साम्राज्य के कोने-कोने की ख़बरें दिल्ली सम्राट के कानों तक पहुँचती रहती थीं।

निस्सन्देह किसानों के सुख और उनकी समृद्धि का भारत के लिखे हुए इतिहास में किसी समय भी इतना अच्छा और व्यवस्थित

प्रबन्ध न था जितना मुग़ल सम्राटों के समय में। यही कारण है कि उस समय के अनेक यूरोपियन तथा अन्य यात्री भारतीय ग्रामों की समृद्धि की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हैं और अनेक लिखते हैं कि संसार के अन्य किसी भी देश में उस समय किसानों की अवस्था इतनी अच्छी न थी।

अब हम अत्यंत संक्षेप में मुग़ल समय के न्यायशासन का वर्णन करना चाहते हैं। अत्यन्त प्राचीन काल से भारत के प्रत्येक ग्राम के अन्दर एक ग्राम-पंचायत होती थी जिसके पंचों का चुनना सर्वथा ग्रामवासियों के हाथों में होता था। इस ग्राम-पंचायत को न केवल अपने ग्राम के म्युनिसिपल अधिकार ही प्राप्त होते थे, वरन् ग्रामवालों की जान-माल की रक्षा और आसपास की सड़कों पर यात्रियों और व्यापारियों की हिफ़ाज़त का काम भी इन्हीं के सुपुर्द होता था। प्रत्येक पंचायत के मातहत चौकीदार होते थे, जो पंचायत से वेतन पाते थे और जिन पर राज्य का किसी प्रकार का अधिकार न होता था। अपने यहाँ के दीवानी और फ़ौजदारी के मुक़दमों को तय करने और अपराधियों को दंड देने का भी इस पंचायत को अधिकार होता था। यह पंचायत ही ग्राम के बालकों और बालिकाओं की शिक्षा का प्रबंध करती थी। अधिकांश नगरों और विशेषकर छोटे नगरों में भी इसी प्रकार की पंचायतें होती थीं, जिन्हें इसी प्रकार के विस्तृत अधिकार प्राप्त होते थे।

मुग़ल सम्राटों ने इन सहस्रों भारतीय ग्राम पंचायतों के प्राचीन

अधिकारों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया, वरन् उन्हें ज्यों का त्यों क़ायम रक्खा, जिसका मतलब यह है कि अंगरेज़ों के आने से पहले सिवाय राज्य का लगान अदा कर देने के भारतीय ग्राम-वासियों को स्वराज्य के अन्य लगभग समस्त अधिकार प्राप्त थे।

इन पंचायतों को साधारण पुलिस के काम में मदद देने के लिए हर ज़िले में एक फ़ौजदार होता था, जिसका काम केवल बड़ी-बड़ी डकैतियों, उपद्रवों आदि में पंचायत की मदद करना होता था। न्याय-शासन में पंचायतों की सहायता और उनके काम को पूरा करने के लिए हर इलाके में फ़ौजदारी के मुक़दमों के लिए एक क़ाज़ी और दीवानी के मुक़दमों के लिए एक "सद्र" होता था। साम्राज्य भर के काज़ियों का अफ़सर एक "काज़िउल कुज़्ज़ात" होता था, जो साम्राज्य की राजधानी में रहता था। इसी प्रकार तमाम सद्रों के ऊपर एक 'सद्दुस्सुदूर' होता था। प्रत्येक नये क़ाज़ी की नियुक्ति के समय राज्य की ओर से उसे निम्नलिखित हिदायत की जाती थी—

"सदा इन्साफ़ करना, ईमानदार रहना और किसी की रू-रियायत न करना। मुक़दमे या तो अदालत की जगह या सरकारी दफ़्तर में हमेशा दोनों फ़रीक की मौजूदगी में करना।

"जिस जगह तुम्हारी नियुक्ति हो वहाँ के किसी आदमी से किसी तरह का उपहार स्वीकार न करना, और न किसी के जलसे इत्यादि में जाना।

"अपने फ़ैसले, दस्तावेज़ इत्यादि बड़ी सावधानी से लिखना, ताकि कोई विद्वान उनमें नुक्स निकालकर तुम्हें शर्मिन्दा न करे। दरिद्रता को अपने लिए गौरव जानना।"

केवल सुचरित्र तथा विद्वान लोगों को ही क़ाज़ी और 'सद्र' की पदवियों पर नियुक्त किया जाता था। इतिहास-लेखक फ्रेडरिक-आगस्टस इस बात की गवाही देता है कि भारतीय मुग़ल साम्राज्य के अधिकांश मुलाज़िम और कर्मचारी ईमानदार और योग्य होते थे।

मुकदमों का फ़ैसला करने में देश के प्राचीन रस्मोरिवाज और धर्मशास्त्रों का पूरा ख़्याल रखा जाता था। सम्राट अकबर ने अनेक योग्य ब्राह्मणों को न्यायाधीश के अधिकार प्रदान किये और आज्ञा दे दी कि न्यायालयों में मनुस्मृति तथा अन्य धर्मशास्त्रों की आज्ञाओं का पालन किया जाय। प्रत्येक सम्राट सप्ताह में कम से कम एक दिन ख़ास-ख़ास मुकदमों और अपीलों को सुनने में व्यय करता था। प्रजा में प्रत्येक छोटे से छोटे मनुष्य को अपनी शिकायत लेकर सम्राट तक पहुँचने का अधिकार होता था। सम्राट जहाँगीर ने, जो अपने इन्साफ़ के लिए प्रसिद्ध था, आगरे में अपने क़िले की दीवार पर से एक सोने की ज़ंजीर लटका रखी थी जो ज़मीन तक लटकती थी। किसी भी छोटे से छोटे फ़रयादी को उस ज़ंजीर को खींचने और अर्ज़दास्त उसमें बाँध देने का अधिकार होता था और तुरन्त उसे सम्राट के सामने लाकर पेश कर दिया जाता था।

धार्मिक उदारता के संबन्ध में अकेले औरंगज़ेब को छोड़कर

भारतीय मुग़ल सम्राटों का समय वास्तव में आदर्श समय था। बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ और उनके अधिकांश उत्तराधिकारियों के समय में हिन्दू और मुसलमानों के साथ राज्य की ओर से एक समान व्यवहार किया जाता था, दोनों धर्मों को एक समान आदर की दृष्टि से देखा जाता था, और किसी के पास किसी प्रकार का भी पक्षपात न किया जाता था। अंग्रेज़ एलची सर टॉमस रो ने सन् १६१६ ईसवी में सम्राट जहाँगीर के शासनकाल में उस समय की अवस्था को देखते हुए लिखा था—

"तैमूरलङ्ग की संतान मोहम्मद का मज़हब अपने साथ लायी, किन्तु उन्होंने अपने विजय के बल किसी को ज़बरदस्ती उस मज़हब में शामिल नहीं किया और धर्म के मामले में सबको आज़ाद छोड़ दिया।"

औरंगज़ेब और उसके उत्तराधिकारियों के समय के (१६८८-१७२३) बंगाल की अवस्था का वर्णन करते हुए एक दूसरा अंग्रेज़-कप्तान अलेक्ज़ेंडर हैमिलटन लिखता है—

"यहाँ पर एक सौ से ऊपर मत-मतान्तरों के लोग हैं, किन्तु वे अपने उसूलों अथवा उपासना-विधियों के विषय में कभी नहीं लड़ते-झगड़ते। हर शख़्स को आज़ादी है कि अपने तरीक़े के अनुसार ईश्वर की सेवा और पूजा करे। मज़हब के नाम पर दूसरे को किसी प्रकार की यातनाएँ देने का यहाँ कोई नाम भी नहीं जानता।

"बंगाल के शासकों का मज़हब इसलाम है, किन्तु हर मुसलमान पीछे वहाँ सौ से ऊपर हिन्दू हैं और तमाम सरकारी

नौकरियाँ और ओहदे बिना किसी भेद-भाव के दोनों मज़हब के लोगों को दिये जाते हैं।"

निस्सन्देह धार्मिक उदारता ही भारतीय मुग़ल साम्राज्य की आधार शिला थी। सम्राट बाबर ने अपने बेटे हुमायूँ के नाम अपने अन्तिम आदेश में इस धार्मिक उदारता की नींव रक्खी। हुमायूँ ने ईमानदारी के साथ उस पर अमल किया। सम्राट अकबर ने इस उदारता को उस अलौकिक पराकाष्ठा तक पहुँचाया जो संसार के धार्मिक इतिहास में सदा के लिए एक सीमा चिह्न रहेगी। जहाँगीर और शाहजहाँ ने आश्चर्यजनक सफलता के साथ उसका पालन किया।

हमें स्मरण रखना चाहिए कि यह ठीक वह समय था जब यूरोप के अन्दर धर्म के नाम पर अत्याचार और ज़बरदस्तियाँ एक सामान्य घटना थी। आयरलैण्ड में उस समय न किसी रोमन-कैथलिक को अपने पूर्वजों की जागीर मिल सकती थी, न कोई कैथलिक फ़ौज का अफ़सर हो सकता था और न जजी की बेञ्च पर बैठ सकता था। फ्रांस में ह्यगो नोट संप्रदाय के एक-एक आदमी को देश से समुद्र पार निर्वासित कर दिया गया था। स्वीडन में सिवाय लूथर के संप्रदाय के शेष किसी ईसाई को जूरी का मेंबर होने का अधिकार न था। स्पेन में प्राँटेस्टेंट संप्रदाय के लोगों के मरने के समय किसी पादरी को उनकी अन्त्येष्टि क्रिया करने की इजाज़त न थी। इतना ही नहीं, वरन् यूरोप के एक-एक देश में उस समय ऐसे क़ानून पास हो रहे थे, जिनका अर्थ यह था कि सिवाय ईसाई मत के उस संप्रदाय विशेष के

माननेवालों के, जिस संप्रदाय के कि वहाँ के शासक होते थे, किसी दूसरे संप्रदाय के लोग देश में सुख-चैन से रहने न पाएँ।

उस समय के भारत तथा यूरोप की तुलना करते हुए अंग्रेज़ इतिहास लेखक टॉरन्स लिखता है—"दिल्ली के शुरू के सम्राटों के दिनों में, सत्रहवीं सदी के मध्य तक, सब धर्मों के लोगों के साथ पूर्ण उदारता का व्यवहार किया जाता था। ठीक उसी समय यूरोप निवासी धर्म के नाम पर अत्याचारों द्वारा अपने महाद्वीप को एक विशाल श्मशान-भूमि बनाने के ज़ोरदार प्रयत्नों में लगे हुए थे। अपने-अपने धर्म की रक्षा के लिए लोग यूरोप के विविध देशों से भाग-भागकर अमरीका में जा-जाकर बस रहे थे।"

इस पुस्तक में कई स्थान पर यह दिखलाया गया है कि मुसलमानों और विशेषकर मुग़लों के शासनकाल में राज्य की ऊँची पदवियाँ हिन्दुओं को मिली हुई थीं। प्रत्येक सम्राट की ओर से असंख्य हिन्दू मन्दिरों को जागीरें और माफ़ियाँ प्रदान की गयीं। औरंगज़ेब मुतास्सिब तथा अनुदार था, तथापि उसके दरबार में भी हिन्दू मन्त्री और उसकी सेना में हिन्दू सेनापति मौजूद थे। औरंगज़ेब की मृत्यु को आज दो सौ वर्ष से ऊपर हो चुके, किन्तु अभी तक अनेक हिन्दू मन्दिरों के पास, उदाहरण के लिए इलाहाबाद के निकट अरैल में सोमेश्वरनाथ के मंदिर के हिन्दू पुजारियों के पास औरंगज़ेब के दस्तख़ती परवाने मौजूद हैं, जिनमें उन मंदिरों को राज्य की ओर से जागीरें प्रदान की गयी हैं।

सुशासन और समृद्धि की दृष्टि से मुग़ल साम्राज्य का समय भारत के इतिहास में निस्सन्देह स्वर्ण-युग था। असंख्य यूरोपियन तथा एशियाई यात्रियों की गवाहियों और तत्कालीन ऐतिहासिक उल्लेख इस विषय में उद्धृत किये जा सकते हैं। धन-धान्य और सुख संपत्ति की जो रेल-पेल भारत के अन्दर सम्राट शाहजहाँ के शासन-काल में देखने में आती थी वह संसार के इतिहास में शायद ही कभी किसी दूसरे देश को नसीब हुई हो।

मौत के मुँह में

श्री पं० श्रीराम शर्मा

[हिन्दी में शिकार साहित्य को जन्म देने का श्रेय श्री पं० श्रीराम शर्मा को है। 'शिकार,' 'प्राणों का सौदा' नामक पुस्तकें बड़ी ही सजीव भाषा में लिखी गयी हैं। लेखक का भाषा पर अधिकार है। प्रकृति-वर्णन इतना सजीव, पर सादा—अन्यत्र मुश्किल से मिलेगा। आप पत्रकार हैं।

आप आजकल 'विशाल-भारत' का अवैतनिक संपादन कर हिन्दी की अनुकरणीय सेवा कर रहे हैं।]

मेरे शिकारी मित्र पं० लक्ष्मीदत्त बड़े ही ज़िन्दा-दिल आदमी हैं। शिकारी में जो गुण चाहिए वे सब उनमें हैं। संकट के समय, जब बाघ आक्रमण कर बैठे, साहस के साथ अपने साथी का साथ देना और शिकार-संबन्धी विषय के मूलतत्त्व को समझकर काम करना और बीहड़ तथा अगम्य स्थानों में पीर, बावर्ची, भिश्ती, खर बनना—ये सब गुण लक्ष्मीदत्तजी में हैं।

उनमें और मुझमें एक भारी भेद है; उन्हें शिकार खेलने और खाने—दोनों का शौक़ है। मैं शिकार खेलने को कला की दृष्टि से देखता हूँ। कट्टर निरामिषभोजी होने के कारण मेरा शिकार खेलना गुनाह बेलज़्ज़त है। अन्य व्यसनों की भाँति शिकार भी एक व्यसन है; पर यह व्यसन अन्य व्यसनों की अपेक्षा कहीं अच्छा है। मेरी तो यह धारणा है कि विद्यार्थियों के लिए—विशेषकर उनके लिए, जिनकी धमनियों में उष्ण रक्त प्रवाहित हो रहा है और जिनकी जीवन-यात्रा का मध्याह्न नहीं हुआ—शिकार खेलना—साहस के पुतले बनना—परमावश्यक है। नवयुवकों को शस्त्र और शास्त्र दोनों में पारंगत होना चाहिए।

* * *

हाँ, तो बाघ से 'भिड़न्त' के उपरान्त अगले दिन प्रातःकाल लक्ष्मीदत्तजी आये। मेरी सूरत-शकल देखकर—यह निश्चय करके कि मेरे कहीं चोट नहीं है—उन्होंने दूसरे बाघ की बात छेड़ी।

मैंने कहा—भई, रहने भी दो। हम लोग कोई ख़ुदाई-फ़ौजदार तो हैं नहीं, जो ईश्वर की सृष्टि में हर जगह हस्तक्षेप करते फिरें। कल तो एक बाघ मारा ही है, जिसमें मैं ख़ुद भी शिकार हो गया होता। आख़िर ऐसी भी क्या लत!

लक्ष्मी०—हमारी लत क्या है? कहीं महीने दो महीने में तो बाहर निकलते हैं। आप तो किताब के कीड़े हैं। क्या बुराई है, जो अवकाश के समय एक दुष्ट आततायी को मारने चलते हैं? रही मारने

की बात, सो हिंसा-अहिंसा की बात तो मैं नहीं समझता। मैं तो बाघ मारकर मुर्गी, हरिन और तीतरों के मारने का पाप—यदि यह पाप है तो—कम किया करता हूँ। और फिर जो शत्रु को पाले, वह तो मूर्ख है; क्योंकि, 'पयः पानं भुजंगानां केवलं विषवर्धनम्।'

मैं—ख़ैर, लम्बी-चौड़ी बातें न बनाओ। स्पष्ट यह कहो कि आज भी शिकार को चलेंगे। शास्त्र की बातें तो शैतान भी कर सकता है।

लक्ष्मी०—चाहे कुछ सही। शैतान नहीं, शैतान का नगड़-दादा बनाइये, पर चलिए। आज इतवार है। कल फिर वही पढ़ाने की घिस-घिस।

मैं—अच्छी बात है, पर आज तुम्हारी परीक्षा है? यदि बाघ मिला, तो तुम्हें ही पहला फ़ायर करना होगा। बहुत दिनों से तुमने कोई बाघ नहीं मारा। मुझे ही मारना पड़ता है।

लक्ष्मी०—अच्छी बात है। आज बाघ को इस लोक से परलोक पठाने का पुण्य मैं ही करूँगा। आप सेनापती बने रहिये। तो मैं जाता हूँ। (जाते हुए)—हम लोग दो बजे जंगल की ओर चलेंगे।

भोजन किया और कुछ आराम करके हम लोग जंगल की तरफ़ चल दिये। मेरी ढाई बरस की लड़की 'कमला' रोने लगी, और कहने लगी—"बाबूजी, मैं भी छाथ चलूँगी।"

"मैं बाघ मारने जाता हूँ बिटिया।"—मैंने कहा। "मैं भी तो बाघ मालूँगी"—उसने सिसकते हुए कहा। यह सुनकर

हम सब लोग हँसने लगे, पर उसकी समझ में कुछ न आया। मचलती ही रही।

* * *

एक मील तक हमारा मार्ग नदी के किनारे-किनारे था। भागीरथी की सहायक मिलंगना धनुषाकार में उछलती-कूदती, अपने सहवासी शैलशिखरों, द्रुमदलों और अलिचुम्बित पुष्पों को अन्तिम प्रणाम और कदाचित् हमारा तिरस्कार करती हुई अपने प्यारे मे मिलने के लिए दौड़ी जा रही थी। यों तो प्राकृतिक दृश्य नयनाभिराम था। वन की एक-एक वस्तु जीवन के लिए एक सबक़ था। पर कितने हैं माई के लाल, जो साधारण घटनाओं से शिक्षा लें। केवल महान् आत्माएँ ही—जो ब्रह्म की ज्योति अधिक परिमाण में लेकर आयी हैं—बाज़ के चिड़िया को मारने और किसी शव के देखने मे संसार में युगान्तर कर देती हैं, और भगवान् 'बुद्ध' कहाती हैं।

फलों का गिरना न्यूटन से पहले किसने नहीं देखा था? पर आकर्षण-शक्ति (Law of gravitation) का सिद्धांत उसी को सूझा। कितने हैं ऐसे, जो पीड़ितों का चीत्कार सुनकर उनकी भलाई के लिए अपना जीवन होम दें? विशेष आत्माओं पर ही विशेष प्रभाव होता है। शेष लोग तो दुर्वासनाओं की पूर्ति के पातक पुंज हैं।

मानव प्रकृति प्रतिदिन एक ही वस्तु देखते-देखते ऊब जाती है। आगरेवालों को ताजमहल देखने का कौतूहल नहीं होता। वृन्दावन-वासियों को 'कालिन्दी कूल कदम्ब की डारिन' वह आकर्षण

नहीं, जो एक नवागन्तुक यात्री को होता है। हम लोगों को मार्ग के दृश्य में कोई विशेष आनन्द नहीं मिल रहा था। वह तो रोज़ की चीज़ थी। उससे हम अघा चुके थे। इसलिए समय बिताने के लिए मैंने लक्ष्मीदत्तजी से किसी पहाड़ी गीत को पहाड़ी लोगों की टोन में गाने के लिए आग्रह किया और घाटी शीघ्र ही "सड़क की घूमा, सदा नी रहदी जवानी की घूमा" से गूँज गयी। पहाड़ की चोटियों पर गाने की भी छूत होती है। एक आदमी ने आवाज़ लगायी कि बस घास काटनेवाले—जिस प्रकार एक कुत्ते का भूँकना सुनकर और कुत्ते भूँकने लगते हैं—हू-हा करके गाने—रेंकने लगते हैं।

ऐसी ही बातों में हम लोग गाँव के पास आ गये। हमारे परिचित बूढ़े ने हमारा स्वागत किया। बूढ़ा और उसकी बुढ़िया दरिद्रता, दीनता और दुख की साक्षात् मूर्ति थे। ग़रीबी का चित्र चित्रण करना साधारण लेखिनी का काम नहीं। मेरी लेखनी में वह ओज कहाँ? उसमें इतनी शक्ति नहीं, जो उनका चित्र खींच सके। रूस के प्रसिद्ध लेखक इवान तुर्गनेव की प्रतिभा चाहिए। उसके अभाव में ग्रामीणों की अधोगति का वर्णन करना कठिन है।

बूढ़ा एक छोटी सी भग्नावशेष कुटिया में रहता है। कुटिया के सामने एक छोटा-सा बाड़ा है। उसी में उसके पशु बँधते हैं। दो छोटे-छोटे बैल, दो गाएँ—जो बाघ द्वारा मारी गयीं—और एक गाय का बच्चा, हल और थोड़ा सा बीज—बस यही उसकी पूँजी है। बर्तनों में तवा, पतीली, थाली, तीन गिलास और

दो लोटे हैं। कपड़ों में—बुढ़िया जो कुछ पहने है—एक जीर्ण शीर्ण कुर्ता, एक पेबंददार पहाड़ी धोती है और गहनों से नाक में सौभाग्य का चिह्न पीतल की नथ है। बूढ़ा एक लंगोट पहने और हाथ में हुक्का लिये—जिसको उसके दादा ने देहरादून से मोल लिया था—हमारी ख़ातिर में लगा था। कभी नमक लाता था और कभी दही। यदि आतिथ्य का तात्पर्य प्रेम, सहृदयता और जो कुछ अपने पास रूखा-सूखा हो, उसका खिलाना है, तो बूढ़े का आतिथ्य उस षड्रस भोजन से सौ गुना अच्छा था, जो कलह-कूप-अट्टालिकाओं में बड़ी शान के साथ दिया जाता है। सत्कार के सात्विक भाव से बूढ़े की आँखें चमक रही थीं, और बाघ के मरने पर उसे जो प्रसन्नता हुई थी, वह कदाचित् क़ैसर के पतन से लायड जार्ज को भी न हुई हो। बूढ़े के सामने यदि प्रसिद्ध शिकारी सर सैम्युएल बेकर भी आ जाते, तो वह उनका भी इतना कायल न होता, जितना कि वह हमारा था। जनता के मन पर प्रत्यक्ष बात का जितना प्रभाव पड़ता है, उतना किसी दूर की सुनी-सुनायी चीज़ का नहीं।

* * *

दही पीकर हम लोग जंगल की ओर चले। साथ में बूढ़ा और सात-आठ आदमी थे। बाघ की भेंट को एक बकरा भी ले लिया था। लोगों के हाथों में दराँतियाँ थीं। दो-एक ने लट्ठ भी ले लिये थे। गाँव से जंगल की ओर को ढलवाँ उतार था, इसलिए बटिया पर हम लोग एक के पीछे एक होकर चले। एक

स्थान पर पहुँचकर यह सोचा कि यदि बाघ आसपास आधे मील पर कहीं होगा, तो बकरे की आवाज़ सुनकर अवश्य आयगा। बाघ को जब बकरा बाँधकर मारना हो, तो बाँधने का स्थान ऐसा होना चाहिए, जहाँ से आवाज दूर तक सुनाई पड़ सके। गहरे गढ़े में—जहाँ से बकरे का मिमियाना पहाड़ की एक ही ओर तक सुनाई पड़ सके—बकरे का बाँधना ठीक नहीं। साथ ही स्थान चारों ओर से आठ-आठ, दस-दस गज़ तक खुला होना चाहिए, जिससे बाघ आक्रमण करने के पहले ही, घात लगाते समय ही, मारा जा सके। प्रायः यह देखने में आया है कि लोग बकरे को झाड़ी के पास बाँध देते हैं, जहाँ से एक गज़ चारों ओर कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता। फलस्वरूप बाघ बकरे को आकर दबोचकर—लेकर चम्पत होता है, और शिकारी साहब या तो काठ के उल्लू की तरह बैठे रहते हैं या अन्धाधुन्ध फ़ायर करते हैं और बकरे के स्थान में बकरे को ही गोली मार देते हैं। बकरे को इतनी मज़बूती से तीन खूँटों से बाँधना चाहिए कि बाघ के आक्रमण के धक्के से रस्सी टूट न जाय। लक्ष्मीदत्तजी ने बकरे को इसी भाँति ख़ूब कड़ा बाँधा। बकरा बाँधने से पहले हम लोगों ने अपने बैठने का स्थान बना लिया था। हमारे बैठने के स्थान बकरे से बीस-पचीस गज़ दूर ऊँचे पर था। ऊँचे पर इसलिए जिससे बाघ—परमात्मा न करे—घायल होकर हम लोगों पर धावा कर बैठे, तो समतल भूमि की अपेक्षा चढ़ाई पर कठिनाई से चढ़ सकेगा। हम दोनों पहले अपनी जगह पर

चुपचाप बैठ गये, जिससे बकरे को यह न मालूम होने पाये कि उसके समीप कोई आदमी है। ऐसा मालूम होने से बकरा उसी ओर देखता रहता है और मिमियाना बन्द कर देता है। उसे आदमी का सहारा हो जाता है। सहारे की आशा मनुष्य और पशु दोनों को होती है।

जब हम लोग बैठ गये, तब गाँववाले हो-हल्ला करते हुए चले गये, जिससे बाघ को यह मालूम हो कि किसान लोग जंगल में थे और सायंकाल को नियमानुसार चले गये।

हम दोनों निर्जन स्थान में चोरों की भाँति छिपे—घात लगाये—बाघ की जान के गाहक बैठे थे, और बेचारा बकरा नीचे की ओर बीस-पचीस गज़ की दूरी पर चिल्ला-चिल्लाकर आकाश-पाताल एक कर रहा था। उसे अपनी जान के लाले पड़े थे। बेचारे को इतनी समझ कहाँ कि उसका चिल्लाना बाघ का आह्वान करना था।

पूर्णिमा थी, इसलिए प्राची दिशा से, रात्रि होते ही, शशि-देव अपनी पूर्ण कांति से बड़ी सजधज से निकले। हमें उस समय चन्द्रमा की चन्द्रिका से प्रेम न था। हम तो 'काकचेष्टा बकध्यानं' से बाघ की टोह में थे। बकरे की भें-भें और में-में अनन्त रूप से जारी थी। हम लोग भी अपने स्थान से—जहाँ हमें कोई देख न सकता था—बाघ के आगमन की प्रतीक्षा में थे। ७, ८, ९ बज गये। बाघ को आना होता, तो सायंकाल होते ही आ जाता। ऐसे जंगल में, जहाँ पर सायंकाल के समय कोई आदमी रहने का साहस न कर सकता था, यदि बाघ होता, तो

बकरे की बोली पर जल्दी ही आता। यों तो सायंकाल होते ही जंगल में जंगली जानवरों की गति से एक—चहल-पहल थी; पर इस चहल-पहल से हमें क्या मतलब? प्रतीक्षा करते-करते दस बजने आये, और लक्ष्मीदत्तजी को सिगरेट पीने की इच्छा हुई; पर मैंने संकेत से उन्हें ऐसा न करने दिया, क्योंकि बाघ को चौकन्ना करने और भागने के लिए तनिक-सा सन्देह ही पर्याप्त होता है। बाघ का मारना क्या है, उसको ठगना है। जो वीरता और होश-हवास रखते हुए उसे धोखा दे सकेगा, वही उसे मार सकेगा। रही मरने-जीने की बात, सो तो बाघ के शिकार में अपना शिकार कभी भी और कैसे भी हो सकता है।

साढ़े ग्यारह बजे के लगभग हमसे चार-पाँच फ़र्लांग की दूरी पर काकड़ (Barking Deer) बोला। काकड़ प्रायः भयभीत होकर या बाघ को देखकर बोलता है। कदाचित् बाघ ही हो। इसलिए, हम अपनी बन्दूकें हाथ में लेकर बैठ गये। एकटक हो आँखें फाड़-फाड़कर देख रहे थे। एक बज गया, पर बाघ न आया। इससे हम हतोत्साह न हुए। पुराने पापी थे। बाघ के स्वभाव से भली-भाँति परिचित थे। हम जानते थे कि अपने भोजन—बकरे—पर बाघ जल्दी भी आ सकता है, और सोच-समझ कर, घंटों में, देर से भी। इतने में हमसे पचास गज़ की दूरी पर एक पत्थर लुढ़का, और फिर कोई आहट न हुई। उससे हमें विश्वास हुआ कि हो न हो बाघ ही है। दूर से ही बैठकर उसने बकरे

को देखा है और बहुत देर तक इसी आशंका में था कि कहीं कोई खटका न हो। बकरे के साथ कहीं छली प्रपंची मनुष्य न हो। यह विश्वास करके कि कोई भय नहीं है, बाघ आगे बढ़ता प्रतीत हुआ। बकरे ने बाघ को देखकर मिमियाना बन्द कर दिया, और सुकुड़ कर पूँछ हिलाता हुआ कातर दृष्टि से देखने लगा। सम्मुख मौत को नंगा नाचता देखकर बकरा बेबस—गुमसुम होकर—काँपता हुआ खड़ा हो गया। अभी बाघ खुले मैदान में न आया था—कम-से-कम हम लोगों ने उसे न देखा था; पर बकरे की दृष्टि उस पर पड़ गयी थी। थोड़ी देर उपरान्त जंगल के किनारे दो चमकती हुई गोलियाँ-सी दिखाई दीं। वह चौंधिया देनेवाली भयावह ज्योति बाघ की आँखों की थी। अजगर और बाघ की आँखों में मोहक शक्ति होती है। वह शक्ति बकरे के और हमारे सामने थी। मैंने धीरे से लक्ष्मीदत्तजी को अपने हाथ से दबाया। उत्तर-स्वरूप उन्होंने भी वही संकेत किया। शिकार के समय बोलना और हिलना-डुलना मूर्खता है। शिकार के संकेत होते हैं। उन्हीं संकेतों से—वाणी के संकेत से नहीं, वरन हाथ दबाने से—हम तैयार हो गये। बाघ ने जब देखा कि झाड़ी से एक छलाँग में वह बकरे तक नहीं पहुँच सकता, तब वह धीरे-धीरे बिल्ली की भाँति घात लगाये हुए आगे बढ़ा और अपने स्नायु और पुट्ठों को इकट्ठा करके वज्र की भाँति हो बैठा। यह आसन घातक था और बकरे के जीवन के कुछ ही क्षण शेष प्रतीत होते थे। पर

नहीं। 'धाँय' की प्रलयकारी ध्वनि हुई, और लक्ष्मीदत्तजी ने दुनाली बन्दूक से एकदम दोनों घोड़े दाग़ दिये। बन्दूक के शब्द का उत्तर, बाघ ने हृदय कँपानेवाले गर्जन से दिया। बाघ के गोली तो लगी थी, पर मर्मस्थान पर नहीं। पेट में लगी। मैं अपनी रायफल लिए बैठा था। मैं चाहता तो एक गोली बाघ के खोपड़े पर मार सकता था, पर उस दिन का सेहरा तो लक्ष्मीदत्तजी के सिर पर था। चोट खाकर बाघ गरजा और छट-पटाकर विद्युत्-गति से लपककर अन्दाज़ से, हम लोगों की ओर बढ़ा। हमारे होश उड़ गये और समझ लिया कि बस हिंसा के पापों का प्रायश्चित्त—'सर्वं वै पूर्णं स्वाहा'—हो गया। हाँफते हुए बाघ को ऊपर तेज़ी से चढ़ते देखकर मैंने रायफ़ल दाग़ दी; पर निशाना चूक गया। रात्रि का समय! रायफ़ल का निशाना और तिस पर दौड़ते हुए बाघ पर!! झट से ख़ाली कारतूस निकाल फेंका और दूसरा कारतूस नाल में पहुँचाया।

इतने में, लक्ष्मीदत्तजी अभी अपनी बन्दूक के ख़ाली कारतूस निकालकर नये कारतूस लगा ही पाये थे कि बाघ ने आकर अगले पंजे की थाप हमारी आड़ पर मारी। सब झाड़, लकड़ी—हमारी सब किलेबन्दी—टूट गयी। हम बाघ के सम्मुख बैठे थे। मैंने एक फ़ायर और किया, और वह जल्दी में उसकी छाती में लगने के बजाय उसकी मेरी ओरवाली अगली टाँग में तिरछा लगा, जिससे उसकी वह टाँग बिलकुल बेकार हो गयी; पर उफ़! उसने दूसरे पंजे

से वज्र-प्रहार किया। उस समय का स्मरण करके मेरा कलेजा अब भी दहल जाता है। लेखनी मेरी उस समय की मनोवृत्ति को व्यक्त नहीं कर सकती। उस अचूक क्रूर प्रहार से लक्ष्मीदत्तजी लोट-पोट होकर नीचे की ओर निर्जीव पत्थर की भाँति लुढ़कने लगे। प्रहार के समय लक्ष्मीदत्तजी ने केवल यही शब्द निकाले—"मास्टरजी, बुरी तरह मरा।" उनकी बन्दूक मेरी ओर आ गिरी। मेरा सिर चकरा गया। आँखों के सामने अंधेरा छा गया। बाघ के भय से नहीं, अपनी मौत की आशंका से भी नहीं, वरन् अपनी वृद्धा माता के एकमात्र सहारा लक्ष्मीदत्तजी के लिए। उनकी पत्नी अपने.... का समाचार सुनकर कैसे सिर धुनेगी! लक्ष्मीदत्तजी के घर में तीन प्राणी थे। उनकी अट्ठाईस-तीस वर्ष की स्त्री, पाँच-छै महीने की एक बालिका और उनकी पैंसठ वर्षीया माता, जो लक्ष्मीदत्तजी की केवल दो वर्ष की आयु में विधवा हो गयी थीं। ऐसे कुटुम्ब पर यह विपत्ति—यह वज्राघात और उसका समाचार देनेवाला मैं! यह मुझसे कैसे हो सकेगा? किस मुँह से मैं नगर को लौटूँगा? मैंने यह शर्त क्यों की थी कि आज पहले फ़ायर लक्ष्मीदत्तजी को करना पड़ेगा? नैतिक दायित्व तो मुझ पर था। होने को तो वही होता है, जो भगवान की इच्छा होती है; पर मुझको उसका साधन क्यों बनाया?

पता नहीं, बाघ लक्ष्मीदत्तजी को कहाँ खींच ले गया और उनके शरीर को क्या दुर्गति की होगी—ये विचार आते ही मैं

पागल-सा हो जाता था। अन्धाधुन्ध फ़ायर करना निरर्थक था। कहीं लक्ष्मीदत्तजी में जीवन शेष हो, तो मेरे बिना निशाने की गोली के वे निशान न बन जायँ। यदि उन्हें ढूँढा भी जाय, तो कहाँ? पर प्रातःकाल तक प्रतीक्षा भी कैसे की जाय? अच्छा हो, मेरी जीवन-लीला भी समाप्त हो जाय। एक वृद्धा असहाय स्त्री का शाप और चीत्कार तो न सुनूँगा, एक युवती पत्नी का हृदय दहलानेवाला विलाप तो कानों में न पड़ेगा। इस उद्विग्नता में रायफ़ल वहीं पटक दी और दुनाली बन्दूक—जिसे लक्ष्मीदत्तजी ने भरा था—उठाकर बाघ और लक्ष्मीदत्तजी के लुढ़कने की ओर उतरा। बन्दूक की नाल खोलकर देखा, तो दोनों नालों में ग्राफ़ भरे हुए थे। कारतूसों को नालों में फिर रखकर मैं नीचे की ओर चला। पन्द्रह-बीस गज़ की उतराई उतरकर बकरेवाले मैदान में आना ही चाहता था कि कोई लम्बी-सी चीज़ पड़ी हुई जान पड़ी। ख़याल हुआ लक्ष्मीदत्तजी का शव होगा। पर नहीं, वह तो बाघ था।

मैंने समझा राक्षस बाघ लक्ष्मीदत्तजी का काम तमाम करके मरा है। मैं ऐसा सोच ही रहा था कि बाघ एकदम तड़पा, और यदि मैं बन्दूक की नाल उसके मुँह में डालकर और दोनों नालों से फ़ायर करके उसके मस्तिष्क को न उड़ा देता, तो वह एक ही चोट में मेरा भी काम तमाम कर देता। बाघ तो मर गया, पर मुझे तो लक्ष्मीदत्तजी की खोज करनी थी। बकरे पर इतना क्रोध आ रहा था कि उसको भी ख़तम कर दूँ। किस मुहूर्त में उसको लिया,

जो ऐसी घटना हुई। खुली जगह के चारों ओर ढूँढा, पर लक्ष्मीदत्त न मिले। हारकर और उत्साह-हीन होकर फिर ऊपर बैठने की जगह पर चढ़ा, और वहाँ से फिर अन्दाज़ लगाकर नीचे उतरा और कुछ ही दूर पर लक्ष्मीदत्तजी को पड़ा पाया। देखकर पहले तो माथा ठनका। हृदय की गति बढ़ गयी। चित्त कहता था कि कहीं जीवित ही न हों। मनुष्य संदिग्धावस्था में भँवर में पड़ी हुई लकड़ी के समान होता है, जो कभी उछलती है और कभी डूबती।

साहस करके मैं उनके सिर के पास बैठ गया और हाथ उठाकर नाड़ी देखी। हैं! यह क्या। नाड़ी तो चल रही थी। गति बहुत मन्द थी। मैंने आव गिना न ताव। जेब में से ब्राण्डी की शीशी निकालकर लक्ष्मीदत्तजी का मुँह खोलकर गले में एक तोले लगभग ब्राण्डी उतार दी। मैं न तो मदिरा का पियक्कड़ हूँ, और न कभी उसे पीता ही हूँ, पर शिकार में कुछ औषधियाँ साथ रखता हूँ और उनमें से एक ब्राण्डी भी है। ब्राण्डी के पेट में जाते ही लक्ष्मीदत्तजी ने झट से आँखें खोल दीं और कराहने लगे। मैंने कहा—"तुमसे अधिक बुरी हालत मेरी रह चुकी है—घायल नहीं हुआ, पर मानसिक घायल रह चुका हूँ। कराहो मत। दियासलाई दो। आग जलाऊँ। जाड़े के मारे हड्डियाँ तक गली जाती हैं। तुम्हारे घाव फिर देखूँगा। बाघ पास ही मरा पड़ा है।"

लक्ष्मी०—"ऐं! मरा पड़ा है!!"

मैं—"हाँ, मरा ही पड़ा है। अन्त में उसे मेरी भी गोली खानी पड़ी।"

* * *

आग जलायी और लक्ष्मीदत्तजी को वहाँ पर बड़ी कठिनाई से सहारा देकर लाया और उनकी चोट की देखभाल की। बातें करते-करते और पट्टी बाँधते-बूँधते प्रातःकाल हो गया।

जिस समय बाघ हमारे सम्मुख आ गया था और मैंने फ़ायर किया था, लक्ष्मीदत्तजी ने फ़ायर करने का अवसर न पाकर अपनी खुखरी का वार बाघ की छाती पर किया था। मैंने भी उसी समय फ़ायर किया था और लक्ष्मीदत्तजी के वार के कारण ही मेरी गोली ठीक निशाने पर नहीं बैठी थी। फिर बाघ ने एक थाप लक्ष्मीदत्तजी के मारी। पंजे का पूरा आघात उनकी बन्दूक पर पड़ा था इसलिए बन्दूक मेरे आगे आ गिरी थी। बाघ के पंजे के केवल दो नख उनकी भुजा पर पड़े थे। वह कमीज़, स्वेटर, कोट और चेस्टर पहने हुए थे, पर फिर भी बाघ के नख कपड़ों को पार कर गये और उनकी बाँह के पुट्ठों को कपड़ों के आवरण से बाहर निकाल दिया। इस झटके के मारे लक्ष्मीदत्तजी ऐसे दूर जा गिरे, जैसे कोई खिलाड़ी गेंद को उठाकर फेंक देता है। लक्ष्मीदत्तजी ने समझा कि बस अंत आ गया। उन्हें फेंककर बाघ फिर उनके पास गया और उनकी गर्दन पकड़ कर झँझोड़ना चाहता था कि लक्ष्मीदत्तजी ने अपनी बची-खुची शक्ति को एकत्र करके—एक अन्तिम

वार अपनी खुखरी से किया। बाघ चोट खाकर उछला, गिरा और बेहोश हो गया। उधर लक्ष्मीदत्तजी भी अचेत हो गये।

लक्ष्मीदत्तजी के खुरसटें बहुत थीं। उनकी एक उँगली भी उतर गयी थी। आँख और चेहरे पर ऐसे चिह्न हो गये थे, मानो किसी ने हंटर मारे हों।

* * *

बाँह के घाव की बड़ी चिन्ता थी। बाघ के नख की चोट से घाव विषैला (Septic) हो जाता है। हम लोगों ने टिहरी आकर किसी से यह न कहा कि बाघ ने लक्ष्मीदत्तजी को घायल किया है। वृद्धा माता के प्रेमजन्य कोप का भाजन कौन बनता? यही कह दिया कि गिरकर चोट आयी है और पत्थर चुभ गया है। वृद्धा माता आँखों से लाचार हैं, इसलिए उन पर चाल चल गयी और टिहरीवालों को—अपने घनिष्ट मित्रों तक को भी—लक्ष्मीदत्तजी की रोमांचकारी घटना और हम लोगों के मौत के मुँह में से जीवित निकल आने की बात आज तक नहीं मालूम है। शहर में तो बस यही ख़बर हुई 'मास्टर साहब ने एक और बाघ मारा है,' पर मास्टर साहब के व्यथित हृदय को ये लोग क्या समझें कि उन पर बाघ के मारने के समय क्या बीती थी।

लक्ष्मीदत्तजी ने दस-बारह दिन की छुट्टी ली और धीरे-धीरे वे अच्छे हो गये और शीघ्र ही अपने उदर को जंगली मुर्ग़ और तीतर की क़ब्र बनाने लगे।

मैंने परब्रह्म को कोटिशः धन्यवाद दिया और अपने भाग्य को सराहा कि उस दिन मेरे साथी की जान बच गयी। मुझे अपना ख़याल न था। यों मरने-जीने को तो—

"एक जाता है तो आता है जहाँ में दूसरा।
उसकी महफ़िल का कभी ख़ाली मकाँ होता नहीं॥"

देशी राज्य तथा नवीन शासन-विधान

देशी राज्यों की समस्या भारतवर्ष के लिए कोई नवीन बात नहीं है। जब से हिन्दू-साम्राज्य का अन्त हुआ और विदेशियों ने इस देश पर अधिकार कर लिया, तभी से देशी राज्यों की समस्या इस देश में उपस्थित है। जिन दिनों मुग़ल-साम्राज्य की महाशक्ति ने भारत को अपनी शासन-शृंखला में जकड़ रखा था, उस समय भी देशी राज्यों की समस्या उपस्थित थी। सम्राट अकबर, जहाँगीर शाहजहाँ तथा औरंगज़ेब के राज्यकाल में भरसक यह प्रयत्न किया गया कि राजपूताने तथा मध्य-भारत के देशी राज्यों की शक्ति को नष्ट कर दिया जाय। उस समय देशी राज्यों की अधीनता तभी तक रहती थी, जब तक केन्द्रीय शासन की बागडोर किसी बलवान मनुष्य के हाथों में हो। जहाँ दिल्ली के सिंहासन पर कोई निर्बल मनुष्य बैठा कि देशी राज्यों ने केन्द्रीय सरकार की अधीनता को छोड़कर स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। अस्तु, उन दिनों मुग़ल सम्राट प्रबल देशी राज्यों के शासकों से

अच्छा संबन्ध बनाये रखने के लिए लालायित रहते थे, इस कारण देशी राज्यों को वह अधीनता अखरती न थी।

मुग़ल-साम्राज्य के नष्ट हो जाने पर भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना हुई। पहले तो ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने देशी-राज्यों से सन्धियाँ कीं, और उनके अनुसार ही कार्य किया; किन्तु क्रमशः अपने रेज़िडेण्टों, पोलिटिकल एजेण्टों तथा पोलिटिकल डिपार्टमेण्ट के द्वारा देशी राज्यों को दबाना प्रारंभ किया। देशी राज्यों के सन्धि-पत्रों का कोई मूल्य न रह गया। भारत-सरकार का पोलिटिकल विभाग उन सन्धियों की नितान्त अवहेलना करके देशी राज्यों के शासकों के साथ मनमानी करने लगा। देशी नरेशों ने पोलिटिकल विभाग के इन कार्यों का विरोध किया; किन्तु वे शक्तिहीन थे, उनकी सुनता कौन? सम्राट का प्रतिनिधि वाइसराय देशी नरेशों के शासन में भी हस्तक्षेप करने लगा। देशी नरेशों ने अपने सन्धि-पत्रों की दुहाई दी, क्षीण प्रतिवाद भी किया; किन्तु उसका कोई फल न हुआ। लेकिन यह हस्तक्षेप ऐसे मामलों में नहीं किया जाता, जिनमें रिआया की दशा सुधरे।

इधर ब्रिटिश भारत में राष्ट्रीय जाग्रति का श्रीगणेश हुआ, और क्रमशः वह प्रबल होती गयी। ब्रिटिश राजनीतिज्ञ राष्ट्रीय आन्दोलन की शक्ति को देखकर चिन्तित हो उठे। उन्होंने देखा कि यदि इस आन्दोलन को रोका नहीं गया, तो भविष्य में परिस्थिति भयंकर हो जायगी। उस समय उनकी दृष्टि देशी राज्यों पर पड़ी,

और उन्होंने देखा कि यह राज्य हमारे सहायक हो सकते हैं। तभी से भारत-सरकार की नीति बदली, और वह देशी राज्य के शासकों से भारतीय राजनैतिक प्रश्नों पर सम्मति लेने लगी। क्रमशः नरेन्द्र-मण्डल की स्थापना हुई। देशी राज्यों के इतिहास में यह प्रथम अवसर था कि देशी नरेश एक स्थान पर बैठकर अपने विषय में बातचीत कर सकें। नरेन्द्र-मण्डल की स्थापना का फल यह हुआ कि देशी नरेशों का एक प्रबल संगठन हो गया। नरेन्द्र-मण्डल ने प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों की सहायता और अपने चतुर दीवानों की सलाह से अपनी माँगों को ब्रिटिश सरकार के सामने रखा। नरेन्द्र-मण्डल ने एक डेपुटेशन के द्वारा भारत-सचिव मांटेगू के सामने अपनी तीन मुख्य आवश्यकताएँ बतलायीं—(१) देशी राज्यों को उन सार्वदेशिक प्रश्नों के निर्णय करने का कोई अधिकार नहीं दिया जाय, जिनका प्रभाव देशी राज्यों तथा ब्रिटिश भारत पर समान रूप से पड़ता है। (२) सम्राट के प्रतिनिधि के देशी राज्यों के मामले में हस्तक्षेप करनेकी कोई सीमा होनी चाहिए। (३) ऐसा कोई पक्षपातरहित न्यायालय हो, जो भारत-सरकार तथा देशी राज्यों के झगड़ों का निपटारा कर सके। ऐसा न्यायालय न होने से फल यह होता है कि जब कभी किसी देशी राज्य तथा भारत-सरकार में किसी विषय पर मतभेद होता है, तो भारत-सरकार ही उसका निर्णय करती है। किन्तु भारत-सचिव ने अपनी रिपोर्ट लिखते समय नरेन्द्र-मण्डल की इन माँगों पर विशेष ध्यान नहीं दिया। मांटेगू-

चेम्सफ़ोर्ड की रिपोर्ट में नरेन्द्र-मण्डल की एक स्थायी कमेटी को राजनैतिक विभाग से सम्बन्धित करने तथा देशी नरेश और भारत-सरकार में जब कभी कोई मत-भेद हो, तो जाँच के लिए निष्पक्ष कमेटी बैठाने का उल्लेख अवश्य था।

देशी राज्यों के नरेश इस रिपोर्ट से नितान्त असन्तुष्ट हुए, क्योंकि उन्हें ब्रिटिश भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को देखकर यह शंका होने लगी कि यदि कभी भारतवर्ष में स्वराज्य की स्थापना हुई, तो उनका अस्तित्व भी मिट जायगा। अस्तु, उन्होंने अपने दीवानों तथा राजनीतिज्ञों की सम्मति से और उन्हीं के द्वारा भारतवर्ष तथा इंग्लैण्ड में अपने पक्ष का प्रतिपादन करने के लिए आन्दोलन किया, और उसमें वे सफल भी हुए। फलस्वरूप देशी राज्यों की समस्या की जाँच के लिए बटलर-कमेटी बिठायी गयी।

बटलर-कमेटी ने सब राज्यों में दौरा किया, और देशी नरेशों तथा उनके दीवानों की वाहवाहियाँ लीं। उस समय नरेशों ने कमेटी के सामने अपनी चार माँगें फिर उपस्थित कीं:—(१) ब्रिटिश भारत में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की स्थापना होने से नरेशों के मान, प्रतिष्ठा तथा अधिकारों में कमी होने की सम्भावना है, इसलिए भारत-सरकार को उनकी शक्ति तथा अधिकारों को अक्षुण्ण बनाये रखने का वचन देना चाहिए। (२) ब्रिटिश भारत में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की स्थापना के उपरान्त देशी राज्यों का भारत-सरकार से कोई संबन्ध न रहकर सीधा सम्राट से सम्बन्ध रहना

चाहिए। (३) देशी राज्यों के मामलों में सम्राट के प्रतिनिधि को किस-किस समय हस्तक्षेप करने का अधिकार होगा, उसका निर्णय हो जाना चाहिए। (४) कस्टम, रेलों, पोस्ट-टेलिग्राफ, नमक तथा देशी माल पर कर लगाने से जो आय हो, देशी राज्यों को उसकी, जन-संख्या के अनुपात से, हिस्सा मिलना चाहिए; क्योंकि इन करों को देशी राज्यों की प्रजा भी देती है, इसलिए इनकी आय में से देशी राज्यों को भी अपना भाग मिलना चाहिए। बटलर-कमेटी ने तीन प्रश्नों का निर्णय तो नरेशों के पक्ष में किया, अर्थात् —उनका संबन्ध सम्राट से है, न कि भारत-सरकार से। इसलिए जब तक देशी नरेश स्वयं न चाहें, तब तक उन्हें किसी नवीन सरकार की अधीनता में नहीं रखा जा सकता। कमेटी ने देशी राज्यों में सार्वदेशिक करों की आय को बाँट देने के पक्ष में भी निर्णय दे दिया; परन्तु बटलर-कमेटी ने सम्राट के देशी राज्यों के मामले में हस्तक्षेप करने के अधिकार को सीमित करने का घोर विरोध किया। यहीं नहीं, कमेटी ने इस बात को अस्वीकार कर दिया कि सम्राट के अधिकार सन्धि-पत्रों (सन्धियों) से सीमित हैं। जिन सन्धि-पत्रों का देशी नरेशों की दृष्टि में इतना अधिक महत्त्व था, वे रद्दी की टोकरी में फेंक दिये गये, और कमेटी ने सम्राट के अधिकारों को और भी बढ़ा दिया। कमेटी के इस निर्णय ने देशी नरेशों में सनसनी उत्पन्न कर दी, और वे अधिक असन्तुष्ट हुए। नरेन्द्र-मण्डल ने इंग्लैण्ड में खूब आन्दोलन किया, और अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों को यह

समझाने का प्रयत्न किया कि जब तक देशी राज्यों की समस्या को हल नहीं किया जायगा, तब तक ब्रिटिश भारत की समस्या हल नहीं हो सकती। इसका फल यह हुआ कि साइमन-कमीशन ने इस बात को मान लिया। साइमन-कमीशन ने सर्व-सम्मति से यह निर्णय किया कि जब भावी शासन-विधान के बनाने के लिए गोलमेज़ कानफ़रेन्स हो तो देशी राज्य के शासकों के प्रतिनिधि उसमें अवश्य बुलाये जायँ।

उस समय भारतवर्ष के वायुमण्डल में यह बात दृढ़ता पकड़ती जा रही थी कि भारतवर्ष के लिए संघ-शासन ही उपयुक्त होगा। यदि समस्त भारतवर्ष को एक राष्ट्र में परिणत करना है, तो संघ-शासन ही देश के लिए हितकर होगा। देशी नरेश भी संघ-शासन को मानने को तैयार हो गये, और प्रथम गोलमेज़ कान-फ़रेन्स में लम्बे-चौड़े भाषणों से उन्होंने उसका स्वागत किया। वास्तविक बात तो यह थी कि नरेशों ने तथा उनके चतुर दीवानों ने देखा कि यही अवसर है, जब अपनी स्थिति को दृढ किया जा सकता है; इस अवसर को न चूकना चाहिए। यह एक ऐसा अवसर था कि ब्रिटिश सरकार राजाओं की उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की माँग के विरुद्ध सहायता लेना चाहती थी, और ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि देश के सब वर्गों की एकता को स्वराज्य-स्थापन के महत्वपूर्ण कार्य के लिए आवश्यक समझते थे। इस कारण राजाओं की सम्मिलित माँगों को दोनों ने ही स्वीकार कर लिया। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय, तो ज्ञात होगा कि देनों गोलमेज़ परिषदों ने जो निर्णय किया

है, उससे राजाओं का बहुत लाभ है; किन्तु ब्रिटिश भारत को इस संघ-शासन से अधिक लाभ न होगा।

अब देखना यह है कि दोनों गोलमेज़ परिषदों ने देशी राज्यों के विषय में क्या निश्चय किया है। गोलमेज़ परिषदों ने निम्न-लिखित सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया है। गोलमेज़ परिषद के अनुसार देशी राज्यों को एकाकी अथवा सामूहिक रूप में संघ-शासन में सम्मिलित होना चाहिए, इस प्रश्न पर देशी राज्यों में ही बहुत बड़ा मतभेद है। भारतवर्ष में ७६२ देशी राज्य हैं, इनमें अधिकांश बहुत ही छोटे हैं। इन छोटे राज्यों के शासक समझते हैं कि यदि इस प्रकार देशी राज्य संघ-शासन में सम्मिलित होंगे, तो उनकी स्वतन्त्रता नष्ट हो जायगी, और उनके राज्यों का स्वतन्त्र अस्तित्व ही न रहेगा। वास्तविक बात तो यह है कि इन छोटे-छोटे राज्यों के स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाये रखते हुए पूर्ण संघ-शासन का निर्माण असंभव है।

दूसरी बात, जिस पर देशी राज्यों ने बहुत ज़ोर दिया था, वह यह थी कि संघ-शासन में दो व्यवस्थापक मंडल हों, और उन दोनों में ही देशी राज्यों का प्रतिनिधित्व हो। यह तो सभी जानते हैं कि दूसरी गोलमेज़ परिषद ने देशी राज्यों को व्यवस्थापक मण्डल में आवश्यकता से अधिक प्रतिनिधित्व दे दिया है। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि देशी राज्यों को इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी कि वे अपने प्रतिनिधियों को जिस प्रकार चाहें, चुनें। इसका फल यह होगा कि देशी राज्यों के नरेश ऐसे आदमियों को मनोनीत किया

करेंगे, जो उनके क्रीतदास होंगे। इस प्रकार देशी राज्यों की प्रजा की संघ-शासन में कोई सुनवाई ही न होगी। आश्चर्य तो यहाँ यह है कि ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों ने इस बात पर तनिक भी विचार नहीं किया कि देशी राज्यों की प्रजा का भी संघ-शासन में कोई अधिकार होना चाहिए या नहीं।

इसके अतिरिक्त देशी राज्यों के प्रतिनिधियों ने गोलमेज़ परिषद में इस बात का भी निर्णय करा लिया कि संघ-सरकार का देशी राज्यों के शासन-विधान से अथवा उनके भीतरी मामलों से कोई सरोकार न होगा। स्पष्ट शब्दों में यह कहना चाहिए कि संघ सरकार का देशी राज्यों तथा उनकी प्रजा पर कोई अधिकार न होगा। इसका अर्थ यह होता है कि देशी राज्यों का शासन चाहे जैसा हो—उदाहरणार्थ, किसी राज्य में राजा का निरंकुश शासन हो, प्रजा को सभा करने तथा लिखने-बोलने की बिलकुल स्वतन्त्रता न हो—किन्तु संघ-सरकार का इससे कोई संबन्ध न होगा। आज ब्रिटिश भारत की जो प्रजा उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की बाट जोह रही है, उसी के प्रतिनिधियों ने देशी राज्यों की प्रजा को सदैव के लिए देशी नरेशों की निरंकुशता का शिकार बनाने का जो जाल तैयार किया है, उससे देशी राज्यों की प्रजा कितनी दुखी है, यह उन्हें संभवतः ज्ञात नहीं।

यद्यपि देशी राज्यों के नरेशों ने इन सुविधाओं को प्राप्त करके ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों की माँग का—उत्तरदायित्वपूर्ण शासन का—समर्थन किया तो सही, परन्तु जिस प्रकार उत्तरदायित्वपूर्ण

शासन की योजना तैयार की गयी है, उससे भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि संघ-शासन का मंत्रिमंडल साधारणतया हटाया नहीं जा सकता। संघीय व्यवस्थापक-सभाओं में ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि भिन्न-भिन्न पार्टियों के होंगे, इसलिए उनमें परस्पर एकता होना असंभव-सा है, वे एकमत हो सकेंगे, इसमें सन्देह है। इस कारण देशी नरेशों के हाथ में ही संघीय शासन की बागडोर रहेगी, क्योंकि सम्राट से देशी नरेशों का सीधा संबंध होगा, इसलिए वे सम्राट के प्रतिनिधियों के विरुद्ध नहीं जायँगे। अस्तु, यह स्पष्ट है कि उत्तरदायित्वपूर्ण शासन केवल स्वप्न ही स्वप्न है, इसमें तथ्य कुछ भी नहीं है।

सत्य तो यह है कि देशी राज्यों के निरंकुश शासक स्वतंत्रता के आन्दोलन से बहुत भयभीत थे। इसलिए वे नहीं चाहते थे कि उनका ब्रिटिश सरकार से संबन्ध-विच्छेद हो। उन्हें भय यह था कि स्वतन्त्र भारत में उनका अस्तित्व ही न रह सकेगा, इसीलिए उन्होंने ब्रिटिश सरकार से संबन्ध-विच्छेद आन्दोलन का विरोध किया। आज भी इस स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। भविष्य में क्या होगा, यह कहना कठिन है।*

---

* भारतवर्ष में लगभग ७०० देशी राज्य हैं जिनका क्षेत्रफल ७,०९,११८ वर्ग-मील और जन-संख्या ७ करोड़ से कुछ अधिक है। इनमें दो प्रकार के राज्य हैं। एक तो वे, जिनका संबन्ध सीधे गवर्नर जनरल से है। दूसरे वे, जो प्रान्तीय शासकों की निगरानी में हैं। जिन रियासतों का संबन्ध गवर्नर जनरल से है, उनमें काश्मीर, बड़ौदा, हैदराबाद और मैसूर मुख्य हैं।

काश्मीर और जम्मू का राज्य हिन्दुस्तान के उत्तरी-पश्चिमी सिरे पर है। इसका क्षेत्रफल ८४,००० वर्ग-मील और जन-संख्या ३६ लाख है। काश्मीर देश अपनी प्राकृतिक सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध है। काश्मीर का अधिकतर भाग पहाड़ी है। काश्मीर की प्रायः ९० फ़ी सदी जन-संख्या मुसलमान है, पर शासन राजपूतों के हाथ में है।

बड़ौदा का राज्य गुजरात और काठियावाड़ में है। इसका क्षेत्रफल १,८८२ वर्ग-मील और जन-संख्या २० लाख से अधिक है। यह राज्य भारतवर्ष के देशी राज्यों में बड़ा ही उन्नत समझा जाता है।

भारतवर्ष के समस्त देशी रियासतों में हैदराबाद का स्थान बड़ा ऊँचा है। यहाँ का क्षेत्रफल ८३,००० वर्ग-मील और जन-संख्या लगभग डेढ़ करोड़ है। यहाँ के शासक 'निज़ाम' कहलाते हैं। यद्यपि यह मुसलमानी राज्य है, परन्तु यहाँ पर ९० फ़ी सदी हिन्दू रहते हैं।

मैसूर दक्षिण भारत का सबसे बड़ा देशी राज्य है। इसका क्षेत्रफल २,९५,००० वर्ग-मील और जन-संख्या ६६ लाख के क़रीब है। यह राज्य शिक्षा, कला-कौशल तथा उद्योग-धन्धे में दूसरे देशी रियासतों से कई गुना आगे बढ़ा हुआ है। यहाँ के राजा बड़े ही उदार और प्रजा-प्रेमी हैं। राज्य के शासन में भी प्रजा को अनेकों अधिकार मिले हुए हैं। मद्रास प्रांत के देशी राज्यों के शासन के संबन्ध में यह कहा जा सकता है कि यहाँ बहुत हद तक उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन है।

मद्रास प्रान्त में दो और छोटे-छोटे देशी राज्य 'ट्रवनकोर' और 'कोचिन' भारत के दक्षिणी-पश्चिमी भाग में हैं। ये दोनों बहुत ही प्राचीन हिन्दू राज्य हैं। ये बड़े ही प्रगतिशील राज्य हैं। यहाँ शिक्षा का बहुत ही प्रचार है। स्त्री-शिक्षा में तो ब्रिटिश भारत से भी ये कहीं बढ़कर हैं। यहाँ की शासन-व्यवस्था भारत के अन्य बहुत से देशी राज्यों की अपेक्षा कहीं सुदृढ़ और सुव्यवस्थित है।

राजपुताना एजेन्सी में २३ रियासतें हैं जिनमें जोधपुर, बीकानेर, जयपुर, उदयपुर आदि मुख्य हैं। जयपुर राजपुताने में सबसे अधिक आबाद रियासत

है। जयपुर का नगर भी बहुत सुन्दर है। उदयपुर का पुराना नाम चित्तौर है। भारतवर्ष में राजपूतों की सबसे बढ़कर मान-मर्यादा रखनेवाला राज्य यही है।

मध्य भारत में १४३ देशी राज्य हैं, जिनपर गवर्नर जनरल की ओर से एक एजेंट निगरानी रखता है। इनमें ग्वालियर, इन्दौर, भोपाल और रीवा की रियासतें मशहूर हैं। मध्य भारत की रियासतों में ग्वालियर प्रधान है। यहाँ महाराष्ट्र-वंशज शासक हैं, जिन्हें 'सिंधिया' कहते हैं। इन्दौर के महाराज 'होलकर' कहलाते हैं। संपादक

प्रेमचन्दजी की कला

श्री जैनेन्द्रकुमार

[हिन्दी के गंभीर विचारवान लेखकों में श्री जैनेन्द्रजी एक हैं। आप दिल्ली के रहनेवाले हैं। अभी नौजवान हैं। प्रगतिशील लेखक तथा विचारक हैं।

आपने बहुत सी कहानियाँ तथा उपन्यास लिखे हैं। वातायन, नीलम-देश की राजकन्या वग़ैरह कहानी-संग्रह तथा त्यागपत्र, कल्याणी, परख आदि प्रसिद्ध उपन्यास हैं।

आपकी रचनाओं में भाव और कल्पना की अपेक्षा विचार और तर्क ज़्यादा रहता है। विचारों की गंभीरता होने की वजह से भाषा बेचारी कभी कभी दब जाती है। आप अच्छे निबन्ध-लेखक तथा समालोचक हैं। आपके निबन्धों का संग्रह 'जैनेन्द्र के विचार' नाम से प्रकाशित हुआ है।]

श्री प्रेमचन्दजी का उपन्यास 'ग़बन' जब निकला था तभी मैंने उसे पढ़ लिया था। लेकिन, जो मुझे वक्तव्य हो सकता है, वह लिखता अब हूँ। चीज़ को समझने और पुस्तक

के असर को ठंडा होने देने के लिए मैंने कुछ समय ले लिया है। ठंडा होकर बात कहना ठीक होता है,—जब व्यक्ति पुस्तक से अपने को अलहदा खड़ा करके मानों उस पर सर्वभक्षी निगाह डाल सके।

प्रेमचन्दजी हिन्दी के सबसे बड़े लेखक थे। हम हिन्दी-भाषा-भाषी उनके मूल्य को ठीक आँक नहीं सकते। हम चित्र के इतने निकट हैं कि उसकी विविधता, उसका रंग-वैषम्य हमें आच्छन्न कर देता है; उसमें निवास करती हुई और उस चित्र को सजीवता प्रदान करती हुई एकता हमारी पकड़ में नहीं आती। जो एकाध दशाब्दि अथवा एक-दो भाषा का अन्तर बीच में डालकर प्रेमचन्द को देखेंगे, वे, मेरा अनुमान है, प्रेमचन्द को अधिक समझेंगे, अधिक सराहेंगे। वर्तमान की अपेक्षा भविष्य में और हिन्दी को छोड़कर जहाँ अनुवादों द्वारा अन्य भाषाओं में पहुँचेंगे, वहाँ उनको विशेष सराहना प्राप्त होगी।

लेकिन, यत्न द्वारा हम अपनी दृष्टि में कुछ-कुछ वैसी क्षमता ला सकते हैं कि बहुत पास की चीज़ को मानों इतनी दूर से देख सकें कि वह हमें अपनी सम्पूर्णता में, अपनी एकता में, दीखे। अगर रचनाओं के भीतर पैठकर, मानों इस सीढ़ी से, हम रचनाकार के हृदय में पहुँच जायँ, जहाँ से कि उसकी रचनाओं का उद्गम है और जहाँ से उसे एकता प्राप्त होती है, तो हम रस में डूब जायँ।

अपने भीतर के स्नेह, सहानुभूति और कौशल को विविध-

भाँति से क़लम की राह उतारकर कलाकार ने तुम्हारे सामने ला रखा है। तुम उन शब्दों, भाषा, प्लाट और प्लाट के पात्रों का मानों सहारा भर लेकर यदि हृदय में से फूटते हुए झरने तक पहुँच जा सकते हो, तो वहाँ स्नान करके आनंदित और धन्य हो जाओगे। नहीं तो, कालिजीय विद्वान की तरह उसकी भाषा की ख़ूबी और त्रुटि और उसके व्याकरण की निर्दोषता-सदोषता में फँसे रहकर उसकी छान-बीन का मज़ा ले सकते हो।

मुझे व्याकरण की चिन्ता पढ़ते समय बहुत नहीं रहती। भाषा की चुस्ती का या शिथिलता का ध्यान उसी के ध्यान की ग़रज़ से मैं नहीं रख पाता। भाषा की ख़ूबी या कमी को, सम्पूर्ण वस्तु के मर्म के साथ उसका किसी न किसी प्रकार सामंजस्य बैठाकर, मैं देख लेना चाहता हूँ। अतः यह नहीं कि मैं उस ओर से नितांत उदासीन या क्षमाशील हो रहता हूँ, किन्तु वहाँ समाप्त करके नहीं बैठ रहता।

प्रेमचन्द जी की क़लम की धूम है। बेशक, वह धूम के लायक़ है। उसकी चुस्त-दुरुस्त भाषा पर, उनके सुजड़ित वाक्यों पर मैं किसी से कम मुग्ध नहीं हूँ। बात को ऐसा सुलझाकर कहने की आदत—मैं नहीं जानता—मैंने और कहीं देखी है। बड़ी से बड़ी बात को बहुत उलझन के अवसर पर ऐसे सुलझाकर, थोड़े से शब्दों में भरकर कुछ इस तरह से कह जाते हैं, जैसे यह गूढ़, गहरी, अप्रत्यक्ष बात उनके लिए नित्यप्रति घरेलू व्यवहार की जानी-पहचानी चीज़ हो। इस तरह, जगह-जगह उनकी रचनाओं में ऐसे वाक्यांश

बिखरे भरे पड़े हैं, जिन्हें जी चाहता है कि आदमी कंठस्थ कर ले। उनमें ऐसा कुछ अनुभव का मर्म भरा रहता है।

प्रेमचन्दजी तत्त्व की उलझन खोलने का काम भी करते थे, और वह भी सफ़ाई और सहजपन के साथ। उनकी भाषा का क्षेत्र व्यापक है, उनकी क़लम सब जगह पहुँचती है। लेकिन, अंधेरे से अंधेरे में भी वह धोखा नहीं देती। वह वहाँ भी सरलता से अपना मार्ग बनाती चली जाती है। सुदर्शनजी और कौशिकजी की क़लम बड़े मज़े-मज़े में चलती है, लेकिन, जैसे वह सड़कों पर चलती है, उलझनों से भरे विश्लेषण के जंगल में भी उसी तरह सफ़ाई से अपना रास्ता काटती हुई चली चलेगी, इसका मुझे परिचय नहीं है।

स्पष्टता के मैदान में प्रेमचन्द सहज अविजेय हैं। उनकी बात निर्णीत, खुली, निश्चित होती है। अपने पात्रों को भी सुस्पष्ट चारों ओर से सम्पूर्ण बनाकर वह सामने लाते हैं। उनकी पूरी मूर्ति सामने आ जाती है। अपने पात्रों की भावनाओं के उत्थान-पतन, घात-प्रतिघात का पूरा-पूरा नक़शा वह पाठक के सामने रख देते हैं। तद्गत कारण, परिणाम, उसका औचित्य, उसकी अनिवार्यता आदि के संबन्ध में पाठक के हृदय में संशय की गुंजायश नहीं रह जाती। इसलिए, कोई वस्तु उनकी रचना में ऐसी नहीं आती, जिसे अस्वाभाविक कहने को जी चाहे, जिस पर विस्मय हो, प्रीति हो, बलात् श्रद्धा हो। सबका परिपाक इस तरह क्रमिक होता है, ऐसा लगता है

कि मानों बिलकुल अवश्यम्भावी है। अपने पाठ के साथ मानों वे अपने भेद को बाँटते चलते हैं। अंग्रेज़ी में यों कहेंगे कि वह पाठक को Confidence में, विश्वास में, ले लेते हैं। अमुक पात्र क्यों अब ऐसी अवस्था में है,—पाठक इस बारे में असमंजस में नहीं रहने दिया जाता। सब कुछ उसे खोल-खोलकर बतला दिया जाता है। इस तरह, पाठक सहज रूप में पुस्तक की कहानी के साथ आगे बढ़ता जाता है, इसमें उसे अपनी ओर से बुद्धिप्रयोग की आवश्यकता नहीं होती,—पात्रों के साथ मानों उनकी सहज जान-पहचान रहती है। इसलिए, पुस्तक में ऐसा स्थल नहीं आता जहाँ पाठक अनुभव करे कि वह पात्र के साथ नहीं चल रहा है,—ज़रा रुककर उसके साथ हो ले। वह पुस्तक पढ़ने को ज़रा थाम कर अपने को संभालने की ज़रूरत में नहीं पड़ता। ऐसा स्थल नहीं आता जहाँ आह खींचकर वह पुस्तक को बन्द करके पटक दे और कुछ देर आँसू ढालने और पोंछने में उसे लगाना पड़े; और फिर, तुरंत ही फिर पढ़ना शुरू कर दे। पाठक बड़ी दिलचस्पी के साथ पुस्तक पढ़ता है; और उसके इतने साथ-साथ होकर चलता है कि कभी उसके जी को ज़ोर का आघात नहीं लगता जो बरबस उसे रुला दे।

'ग़बन' में मार्मिक स्थल कम नहीं हैं, पर, प्रेमचंदजी ऐसे विश्वास, ऐसी मैत्री और परिचय के साथ सब कुछ बतलाते हुए पाठक को वहाँ तक ले जाते हैं कि उसे धक्का-सा कुछ भी न लगता। वह सारे रास्ते-भर प्रसन्न होता हुआ चलता है, और अपने साथी

ग्रन्थकार की जानकारी पर, कुशलता पर, और उसके अपने प्रति विश्वास पर, जगह-जगह मुग्ध हो जाता है। पग-पग पर उसे पता चलता रहता है कि इस कहानी के स्वर्ग में से उसका हाथ पकड़कर ले जाता हुआ उसका पथप्रदर्शक बड़ा सहृदय और विलक्षण पुरुष है। पाठक बिलकुल उसका होकर रहने को तैयार होता है। वह बहुत सतर्क और उद्बुद्ध होकर नहीं चलता, क्योंकि, उसे भरोसा रहता है कि ग्रन्थकार उसे छोड़कर इधर-उधर भाग नहीं जायगा, उसको साथ लिये चलेगा। इसलिए, ग्रन्थकार को भागकर छूने का अभ्यास करके उसके साथ रहने और, इस प्रकार, अपरिचित रास्ते पर झटकों-धक्कों को खाते कभी उनपर हँसते और कभी रोते हुए चलने का मज़ा पाठक को नहीं मिलता, पर पाठक स्वाद को भी चाहता है।

मैं 'ग़बन' पढ़ते हुए कहीं रो नहीं पड़ा। रवीन्द्र की एकाध किताब पढ़ने में, बंकिम पढ़ने में, शरत पढ़ने में कई बार बरबस आँखों में आँसू फूट आये हैं। फिर भी, प्रेमचन्द की कृतियों से जान पड़ता है कि मैं उनके निकट आ जाता हूँ, उन पर विश्वास करने लगता हूँ। शरत पढ़ते हुए कई बार गुस्से में मैंने उसकी कृतियों को पटक दिया हैं, और रोते-रोते उसे कोसने को जी किया है। 'कम्बख़्त न जाने हमें कितना और तंग करेगा!', इस भाव से फिर उसकी पुस्तक उठाकर पढ़ना शुरू कर दी है। ऐसा मेरे साथ हुआ है। इसके प्रतिकूल, प्रेमचन्दजी की कृतियों से उनके प्रति अनजाने सम्मान और परिचय का भाव उत्पन्न होता है।

शरत और कई अन्य की रचनाएँ पढ़ते वक़्त जान पड़ता है जैसे इनके लेखक हमसे परिचय बनाना नहीं चाहते; हमारी—अर्थात् पाठक की, इन्हें बिलकुल परवाह नहीं है। हमारे भावों की रक्षा करने की इन्हें बिलकुल चिन्ता नहीं है; जैसे हमारा जी दुखता है या नहीं दुखता, हम नाराज़ होते हैं या ख़ुश, हमें अच्छा लगता है या बुरा,—इसके ख़्याल करने का ज़रा भी दायित्व उन पर नहीं है। ये लेखक निरपेक्ष और निश्चिन्त होकर हमें जी चाहे जितना रुला सकते हैं, परन्तु, प्रेमचन्द हमारे प्रति निरपेक्ष नहीं हो सकते।

शायद इसी निरपेक्षता की आवश्यकता को विचार कर अंग्रेज़ी की उक्ति बन गयी थी—Art for Art's sake (=कला कला के लिए) किन्तु, यह वचन मेरी समझ में सत्य को बहुत अधूरे ढंग में प्रकट करता है। या, कहें सत्य को खोलकर प्रकट नहीं करता, उसे मानों बाँधकर बन्द करने की चेष्टा करता है। मुझे कहना हो तो कहूँ,—Art for God's sake (= कला परमात्मा के लिए)।

रवींद्र आदि की कृति में किसी एक स्थल पर उँगली रखकर कहना कठिन है कि,—'कैसा अच्छा है!' शरत की ख़ूबी समझ में नहीं आती कि किस ख़ास जगह है। एक-एक वाक्य करके देखो तो कहीं कोई ख़ास बात नहीं दिखाई देती। इधर प्रेमचन्द का कहीं से कोई वाक्य उठा लें; मानों, स्वयं संपूर्ण है,—चुस्त, कसा हुआ, अर्थपूर्ण।

पहले ढंग की किताब को जी अकुलायगा तभी हम उठाकर देखने लग जायँगे। चाहे कितनी बार पढ़ा हो हमें नवीन-सी लगेगी। प्रेमचन्द की किताब एक बार पढ़ लेने पर उसे फिर-फिर पढ़ने की तबीयत कम शेष रहती है।

मैंने कहा है,—Art for God's sake अर्थात्, परमात्मा के प्रति, सत्य के प्रति कलाकार का दायित्व है। इसको कलाकार जब समझेगा तो पायेगा कि उसका अपने प्रति दायित्व है, इसलिए वह पाठक समाज की धारणाओं की ओर से निरपेक्ष और निश्चिन्त होकर अपने प्रति सच्चा रहकर अपने को प्रकट करता है। एक व्यक्ति, समाज या पुस्तक के पात्र की भावनाओं की रक्षा के प्रति अत्यन्त आतुर हो उठने का कलाकार को अधिकार नहीं है। इस सम्बन्ध में उसे अत्यन्त निरंकुश होकर चलना पड़ता है। जिस प्रकार परमात्मा अपने विश्व का संचालन (हमारी-तुम्हारी परिमित समझ के अनुसार) अत्यंत निरंकुश होकर करते हैं; विश्व को जरा-व्याधि, रोग-शोक और जन्म-मृत्यु से भरा बनाये रखते हैं; किसी ख़ास व्यक्ति या समूह की कोई विशेष चिन्ता करते नहीं मालूम होते;—इतना होने पर भी वे परम दयालु हैं। उनकी दयालुता किसी विशेष वस्तु या प्राणी के अच्छा लगने न लगने पर निर्भर होकर नहीं रहती। वह इतनी मर्मगत, इतनी व्याप्त, और उतनी बृहत् है कि उसका कार्य-परिणमन हम छोटी बुद्धिवालों को निरंकुश जँचता है। उसी सबके पिता सिरजनहार के अनुरूप सर्जन का अधिकार रखने-

वाले कलाकार को रहना पड़ता है। वह रचना में अत्यन्त निरंकुश होगा, किसी के प्रति उसमें विशेष ममताभाव है, ऐसा वह नहीं दिखला सकेगा। विद्वान पर मौत आयेगी उसे वह दिखला देगा, शठ समृद्धिवान बनता होगा तो उसे बनने देगा। फिर भी, सहानुभूति और प्रेम से उसका हृदय भरा होना ही चाहिए। वह सहानुभूति या स्नेह इतना उथला न हो कि छलकता फिरे।

संसार में प्रकट में दीखनेवाली निरंकुशता के मार्ग से एक बृहत् सत्य की लीला संपन्न हो रही है। हम नहीं जानते, इसलिए रोते झींकते हैं। हम जिन छोटी-मोटी बातों को सिद्धान्त बनाकर काम चलाते हैं, उनकी ज्यों की त्यों रक्षा जब हमें होती नहीं दीखती तब हम दुखी होते और अस्थिर होते हैं। इस तरह, अपने अहम्-ज्ञान को बीच में डालकर, हम—जिस परमात्मा का विश्वास हमारे लिए सहज होना चाहिए था—उसी को अपने लिए दुष्प्राप्य और दुर्बोध्य बना लेते हैं। सबमें निवास करती हुई उसकी दयालुता हम नहीं देख पाते, इसलिए कहते हैं, 'वह है नहीं; है तो दयालु नहीं है, मनमाना (= Capricious) है।' हमारा तर्क यह होता है—'हम भलेमानस हैं, फिर भी ग़रीब हैं; इसलिए, ईश्वर नहीं है; है तो ठीक नहीं है।' इसी तरह, कलाकार की वृत्ति में किसी अन्तरतर सत्य को पाने और संपन्न करने की चेष्टा होती है,—दुनियाँ की बनायी धारणाओं की रक्षा करने की चिन्ता उसे नहीं होती। सदाचार के और अन्य भाँति के अपने नियम-क़ानून

बनाकर जीती रहनेवाली दुनियाँ अपनी सब धारणाओं का समर्थन वहाँ पाये ही, ऐसा नहीं होने पाता, ऊपर के तर्क से चलनेवाली दुनियाँ की तुष्टि के लिए और उसके अहम्-समर्थन के लिए कलाकार नहीं लिखता। इसी से कहा गया है कि Art for Art's sake,—कला कला के लिए, जिसका कि संपूर्ण शुद्ध रूप है Art for God's sake, और जिसका कि अर्थ कि कला अहंवादी, बुद्धिवादी दुनियाँ को खुश रखने की खातिर नहीं होती; वह God अर्थात् सत्य की प्रतिष्ठा के लिए होती है। प्रेमचन्दजी में उक्त प्रकार की निरपेक्षता पूरे तौर पर नहीं आयी थी। वे पाठक की बराबर परवाह करते हुए चलते थे, और अपनी किसी बात से सहसा दुनियाँ को धक्का नहीं देना चाहते। उन्होंने कोशिश करके जिसे सुन्दर और शिवरूप समझा था, लोगों की वर्तमान स्थिति को किसी विशेष गड़बड़ में न डालने की चिन्ता रखते हुए, वह उसी को लिखते थे। उनके पात्र अशरीरी नहीं होते, सूक्ष्म-शरीरी भी नहीं होते। वे अतर्क्य नहीं हो पाते। वे जो कुछ भी होते हैं, Common Sense (सामान्य साधारण-बुद्धि) के मार्ग से ही होते हैं। असाधारणता उनमें यदि प्रेमचन्द कहीं कुछ रखते भी थे तो मानों साधारणता के मार्ग से ही उसे प्राप्त और प्राप्य बना लेते थे। पाठक के दिल में प्रेमचन्दजी के पात्रों से एक प्रकार का सन्तोष होता है, कोई गहरी बेचैनी नहीं जाग उठती, कोई गहरा खिंचाव जो मित्रता से आगे हो, एक गंभीर तृप्ति जो सन्तोष से गहरी हो,

नहीं होती। प्रेमचन्दजी पाठक का मन रख लेते थे, अपना ही मन पाठक के सामने रख दें, यह नहीं करते।

मैं फिर भी प्रेमचन्दजी को, हिन्दी का नहीं, संसार का लेखक मानता हूँ। बहुत जल्दी संसार भी यह मान लेगा।—क्यों?

सामयिकता को लाँघकर, मानों सामयिकता का आधार पकड़ गहरी उतरकर, जो कृति जितनी ही सत्य के अनुरूप होकर चलती है; वह उतने ही अंश में सर्वकालीन और सर्वदेशीय होती है;—उतने ही अंश में वह काल को चुनौती देती हुई चिरजीवी और देश और भाषा की परिधियों को फाँदती हुई विश्वव्यापी हो जाती है।

सत् है एक, अर्थात् सत्य है ऐक्य। सम्पूर्ण सत्ता को सचेतन एकमय देखो, वही है परमात्मा। इस सनातन ऐक्य को पाने की चेष्टा का नाम है 'प्रेम'। पर वह प्रेम सहज सम्पन्न नहीं होगा। यह जो चारों ओर लुभाती हुई, भरमाती हुई भिन्नता फैली है,—उस सब लोभ, भ्रम और माया के समुद्र में, आँख-कान मूँदकर गहरी डुबकी लगाकर पैठने से वह प्रेम कुछ-कुछ दिखाई पड़ सकता है। इसके लिए गहरी साधना की आवश्यकता है। तो भी इस ऐक्य को पाने की भूख भी प्राणी में कम गहरी नहीं है। पर बहुत कुछ उसकी तृप्ति में आड़े आता है और वह भूख बहुत तरफ़ से परिमित, संकुचित और भूखी रहती है। तो क्या यह शरीर ही रुकावट बनकर सामने आता है? यह हमको सबसे एकाकार तो होने दे सकता ही नहीं, फिर भी इसकी सहायता से ही हम आगे बढ़ते हैं। स्त्री

माँ, भाई, बहिन, पिता आदि नातों द्वारा जो इस शरीर के कारण बन जाते हैं, हम अपने प्रेम का बिस्तर फैलाते हैं। वह प्रेम नाना स्थानों पर नाना रूप में प्रकट होता है। वह प्रेम तत्काल को पाकर जितना चिरस्थायी और शरीर के प्रतिबन्ध को लाँघकर जितना अखिलव्यापी और सूक्ष्मजीवी होता है,—और इस तरह, तात्क्षणिक स्थूल तृप्ति में न जीकर वह जितना उत्सर्गजीवी होता है, उतना ही वह सत्य के अनुरूप, अर्थात् शुद्ध, वास्तविक और आनंदमय होता है। लेकिन काल और प्रदेश की रेखाओं से घिरकर तो जीव की जीवन-यत्रा चलती है। इसलिए उसका प्रेम-पूर्ण निर्विकार सत्यानुरूपी नहीं हो पाता। इस तरह, व्यक्ति के जीवन में सदा ही द्वन्द्व चलता है।

इस दृष्टि से देखा जाय तो कलुषित कुत्सित प्रेम कुछ नहीं होता। विस्तृत ऐक्य के जिस तल तक मनुष्य उठ आया है उस तल से नीचे की चेष्टाएँ जब किसी में देखता है, तो उसे कुत्सित आदि कहने लगता है।

तो, नानारूपिणी माया जब व्यक्ति को अन्य सब के प्रति एक प्रकार के विरोध से उकसाकर उसे अहं-भाव में दृढ़ रखने का आयोजन करती है, तब उसके भीतर का गुप्त सच्चिदानंद इस आयोजन को तोड़-फोड़कर स्वयं प्रतिष्ठित रहने को सतत उत्सुक रहता है। यह द्वंद्वावस्था ही जीवन की चेष्टा का और उपन्यास का मूल है। यही साहित्य-क्षेत्र है।

प्रेमचन्दजी इस द्वंद्वावस्था को अच्छी सूक्ष्म-दृष्टि और सहानु-

भूति के साथ चित्रित करते हैं और इस द्वन्द्व में वह जिस निर्मल प्रेम-भाव की प्रतिष्ठा करते हैं वह देहातीत होता है,—वह बीतते हुए क्षण के साथ मिटता नहीं। वह सेवामय प्रेम दुनियादारी की ग़लत-फ़हमियों की, अज्ञानता की, विफलता की, हीनता की, कितनी कठिनाइयों के साथ लड़ता-झगड़ता हुआ भी अक्षुण्ण और उत्सर्ग-तत्पर रहता और रह सकता है, इसका चित्र प्रेमचन्दजी सजीव करके उठा देते थे। वही सजीव प्रेम, अर्थात् सत्य, जो स्वयं टिकाऊ है, उनकी कृति को भी चलते समय के साथ मरने नहीं देगा। मैं कहता हूँ कि प्रेमचन्दजी ने अपनी कृति में जो चिरस्थायी और कर्मशील प्रेम का बीज रख दिया है, वह सामयिक नहीं है, उसमें स्थायित्व है।

सामयिकता से प्राण खींचकर कइयों ने रचनाएँ की हैं जो रंगीन होकर सामने आ गयी हैं; पर अगर आज वह हाथों-हाथ बिकती हैं तो हमने देखा है, कल वह मर भी जाती हैं। जो रचना शाश्वत सत्य के श्वास से जितनी अनुप्राणित होगी वह उतनी ही शाश्वत और अमर होगी। माया में से रस खींचकर देश और काल के प्रतिक्षण और प्रति-पग बदलते जाते हुए आदर्शों और भावों को आधार बनाकर, सामयिकता की लहर पर नाचती हुई, जो कृति हमें लुभाने आती है, वह आज हमें लुभा ले सही, पर कल हमें ही उसकी याद भूल जायगी, इसका हम विश्वास रखें।

प्रेमचन्दजी की कृति सामयिकता की परिधि को लांघकर और हिन्दी भाषा की परिधि को लांघकर किसी न किसी हद तक विश्व और भविष्य की ओर बढ़ेगी। निस्सन्देह, उसमें ऐसा बीज है।

———

मिनिस्टर

उत्तरदायी शासन का मूल सिद्धान्त—जैसा कि इंगलैंड और ब्रिटिश साम्राज्य के आस्ट्रेलिया, कनाडा, अफ्रीका आदि उपनिवेशों में आजकल माना जाता है—यह है कि अधिकार चाहे किसी के नाम पर हो, उनका प्रयोग जनता के उन चुने हुए प्रतिनिधियों की सलाह पर ही किया जा सकता है जिनका कि उस देश या प्रान्त की धारा-सभा में बहुमत हो। इस प्रकार सलाह देने के लिए जो व्यक्ति नियुक्त किये जाते हैं, उन्हीं का नाम मिनिस्टर है। सम्राट् गवर्नर-जनरल या गवर्नरों को अपने मिनिस्टरों की सलाह के विरुद्ध काम करने का अधिकार दो ही हालतों में होता है। इनमें पहली हालत तो यह है कि मिनिस्टर धारा-सभा का विश्वास खो दें और धारा-सभा उनमें अपने अविश्वास को निश्चित रूप से प्रकट कर दें; और दूसरी वह है जब धारा-सभा का तो मिनिस्टरों में विश्वास हो, लेकिन सम्राट्, गवर्नर-जनरल या गवर्नर का यह निश्चित मत हो कि देश मिनिस्टरों की नीति के खिलाफ़ हो गया है। इनमें से पहली हालत में मिनिस्टरों को इस्तीफ़ा देना पड़ता है और उनकी जगह धारा-सभा के वे सदस्य नियुक्त किये जाते हैं जिनका धारा-सभा में बहुमत हो। हाँ, यदि मिनिस्टरों को यह विश्वास हो कि देश उनके साथ है, तो उन्हें सम्राट्, गवर्नर-जनरल या गवर्नर से यह

प्रार्थना करने का अधिकार होता है कि धारा-सभा को भंग करके नया चुनाव किया जाय, ताकि यह ठीक-ठीक निश्चित हो जाय कि देश मिनिस्टरों के साथ है या धारा-सभा के। यदि चुनाव के बाद धारा-सभा में मिनिस्टरों के समर्थकों का बहुमत हो, तो यह समझा जाता है कि देश मिनिस्टरों के साथ है; उस हालत में सम्राट, गवर्नर-जनरल या गवर्नर को अपनी पुरानी मिनिस्टरी की सलाह पर चलना लाज़िमी हो जाता है। लेकिन यदि चुनाव के बाद धारा-सभा में मिनिस्टरों के समर्थकों का अल्पमत रहे और मिनिस्टरों के विरोधियों का बहुमत हो, तो पुराने मिनिस्टरों को इस्तीफ़ा देना पड़ता है और उनकी जगह वे व्यक्ति मिनिस्टर नियुक्त किये जाते हैं जिनका धारा-सभा में बहुमत हो। उस हालत में सम्राट, गवर्नर-जनरल या गवर्नर को अपने नये मिनिस्टरों की सलाह पर चलना लाज़िमी हो जाता है। दूसरी हालत में भी धारा-सभा को भंग करके और नये चुनाव की आज्ञा देकर इस बात का फ़ैसला किया जाता है कि देश वास्तव में मिनिस्टरों के साथ है या नहीं। यदि नये चुनाव के बाद भी मिनिस्टरों के समर्थकों का धारा-सभा में बहुमत रहे, तो मिनिस्टरों की सलाह पर ही काम किया जाता है; लेकिन यदि नये चुनाव के बाद मिनिस्टरों के समर्थकों का धारा-सभा में बहुमत न रहे और दूसरा कोई दल मन्त्रि-मंडल बनाने को तैयार हो, तो पुराने मिनिस्टरों को इस्तीफ़ा देना पड़ता है और उनकी जगह वे व्यक्ति मिनिस्टर नियुक्त किये जाते हैं जिनका नयी धारा-सभा में

बहुमत हो। उस हालत में सम्राट, गवर्नर-जनरल या गवर्नर को अपने इन नये मिनिस्टरों की सलाह पर चलना लाज़िमी हो जाता है। तीसरी और कोई हालत ऐसी नहीं है जिसमें सम्राट, गवर्नर-जनरल या गवर्नर को मिनिस्टरों की सलाह के विरुद्ध काम करने का अधिकार हो।

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वास्तविक उत्तर-दायी शासन-पद्धति के अनुसार सम्राट, गवर्नर-जनरल या गवर्नर अपनी ज़िम्मेदारी पर तो किसी अधिकार का प्रयोग कर ही नहीं सकते। उन्हें सदा किसी-न-किसी मिनिस्टर की सलाह पर ही काम करना पड़ेगा। अगर वे समझें कि मिनिस्टरों में धारा-सभा का विश्वास नहीं रहा है तो वे अपने मिनिस्टरों को बदल सकते हैं, और यदि वे यह समझें कि मिनिस्टरों और धारा-सभा दोनों में ही देश का विश्वास नहीं रहा है तो धारा-सभा का नया चुनाव कराके इस बात का फ़ैसला करा सकते हैं कि वास्तव में देश किसके साथ है; लेकिन उन्हें काम करना पड़ेगा किसी-न-किसी मिनिस्टर की सलाह पर ही।

इस प्रकार की उत्तरदायी शासन-पद्धति में मिनिस्टर का स्थान बड़ी ज़िम्मेवारी का और बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। लेकिन ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के इस दावे के बावजूद कि उन्होंने प्रान्तों में प्रान्तीय स्वराज्य के साथ उत्तरदायी शासन-पद्धति भी स्थापित की है, नये विधान में मिनिस्टरों को उतना महत्त्व नहीं दिया गया है।

मन्त्रि-मंडल के निर्माण के बारे में आम तौर पर प्रचलित प्रथा यह है कि प्रान्त की लेजिस्लेटिव असेम्बली के आम चुनाव के बाद

गवर्नर उस पार्टी के नेता को मन्त्रि-मंडल बनाने का निमंत्रण देता है जिसका कि धारा-सभा में बहुमत हो। यदि वह नेता, उस निमंत्रण को स्वीकार कर ले और मन्त्रि-मंडल बनाने के लिए तैयार हो जाय, तो उससे मिनिस्टरों के नाम पेश करने के लिए कहा जाता है और गवर्नर की मंज़ूरी के बाद उन्हें गजट में प्रकाशित कर दिया जाता है। इस प्रकार जो व्यक्ति मंन्त्रि-मंडल बनाता है वह प्राइम-मिनिस्टर, चीफ़-मिनिस्टर या प्रीमियर यानी प्रधान-मंत्री के नाम से प्रसिद्ध होता है; बाक़ी सब मिनिस्टर या मंत्री कहलाते हैं। लेकिन कोई भी मिनिस्टर सरकारी काम तब नहीं सम्हाल सकता जब तक कि वह सम्राट की वफ़ादारी की और दूसरी उन शपथों को गवर्नर या गवर्नर द्वारा नियुक्त किसी अन्य व्यक्ति के सामने न ले ले जिनका कि गवर्नरों के आदेश-पत्रों में उल्लेख किया गया है। मिनिस्टरों के काम का बटवारा भी गवर्नर आम तौर पर प्रधान-मन्त्री की सलाह से ही करता है। आम तौर पर प्रत्येक मिनिन्टर के जिम्मे प्रान्तीय शासन-विभाग के कुछ महकमे कर दिये जाते हैं और मिनिस्टरों को अक्सर उन महकमों के मिनिस्टर के नाम से ही संबोधित किया जाता है।

मंत्रि-मंडल के सदस्यों का चुनाव करने का काम कुछ कम मुश्किल नहीं है। इस काम में गवर्नर द्वारा आमंत्रित व्यक्ति को कई दिक़तों का सामना करना पड़ता है। इसकी वजह यह है कि जगहें तो अक्सर कम होती हैं और सन्तुष्ट करना पड़ता है ज़्यादा लोगों को। इसके अलावा भारत में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की

एक दिक़्क़त और है। गवर्नर के आदेश-पत्रों में यह बात बिलकुल स्पष्ट कर दी गयी है कि मंत्रि-मंडल में यथासंभव प्रत्येक अल्पसंख्यक जाति के सदस्य भी शामिल किये जायँ।

प्रत्येक मिनिस्टर के लिए प्रान्त की धारा-सभा का सदस्य होना अवश्यक है। यदि कोई मिनिस्टर लगातार छः महीने तक प्रान्तीय धारा-सभा के किसी भी भवन का सदस्य न रहे, तो उसे मिनिस्टरी के ओहदे से स्वतः अलग हो जाना पड़ेगा। अक्सर ऐसा होता है कि जिस पार्टी के नेता को मंत्रि-मंडल बनाने के लिए बुलाया जाता है, उस पार्टी का कोई प्रमुख सदस्य चुनाव में हार जाता है। यदि उस सदस्य को मंत्रि-मंडल में लेना आवश्यक समझा जाय, तो यह तजवीज़ की जाती है कि उसे मिनिस्टर तो नियुक्त कर दिया जाय, लेकिन छः महीने के अंदर अंदर किसी निर्वाचन-क्षेत्र से उसका चुनाव हो जाय। ऐसा करने के लिए धारा-सभा के किसी सदस्य को, जो उस पार्टी का भी सदस्य हो, इस्तीफ़ा देने के लिए तैयारकिया जाता है और उनके इस्तीफ़ा देने पर नया चुनाव होता है। यदि वह मिनिस्टर छः महीने में किसी भी निर्वाचन-क्षेत्र से न चुना जा सके तो ६ महीने समाप्त होने पर उसे मिनिस्टरी का चार्ज दे देना पड़ता है।

मंत्रि-मंडल के सदस्य आम तौर पर उसीपार्टी में से लिये जाते हैं जिसका कि धारा-सभा में बहुमत होता है। इस पद्धति का स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि मंत्रि-मंडल अपने हर एक काम

के लिए संयुक्त रूप से धारा-सभा के प्रति उत्तरदायी समझा जाता है। लेकिन कभी कभी ऐसा भी होता है—जैसा कि बंगाल और असाम आदि प्रान्तों में पहले चुनावों के बाद हुआ—कि धारा-सभा में किसी भी दल का स्पष्ट बहुमत नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में मंत्रि-मंडल बनाने के लिए गवर्नर को उस दल के नेता को निमंत्रण देना पड़ता है जो दूसरे दलों के सहयोग से मंत्रि-मंडल का निर्माण कर सके। इस प्रकार बनाये गये मंत्रि-मंडलों को अक्सर संयुक्त या गंगा-जमुनी मंत्रि-मंडल कहते हैं। लेकिन इस प्रकार का मंत्रि-मंडल किसी एक नीति पर नहीं चल सकता, क्योंकि उसके सदस्यों के ध्येय और उद्देश्यों में समानता कभी आ ही नहीं सकती।

इगलैंड, कनाडा आदि पार्लमेंटरी पद्धति द्वारा शासित देशों के मिनिस्टरों की स्थिति भारत के मिनिस्टरों की स्थिति से बहुत कुछ भिन्न है। उदाहरणार्थ, इंगलैंड में भारत-मंत्री एक ओर तो भारत सम्बन्धी मामलों में सम्राट की सलाहकार की हैसियत से सम्राट के भारतीय शासन-सम्बन्धी अधिकारों का प्रयोग करता है, दूसरी ओर वह स्वयं भारत-मंत्री की हैसियत से कई अधिकारों का प्रयोग करता है। इसी प्रकार और सब बड़े बड़े मिनिस्टर भी सम्राट के सलाहकार होने के अलावा स्वयं भी एक बड़े महकमे के अध्यक्ष होते हैं और उस महकमें के अध्यक्ष होने की वजह से खुद सीधे भी कई मामलों में हुक्म जारी कर सकते हैं। इससे जनता की दृष्टि में उनका महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। लेकिन हिन्दुस्तान में मिनिस्टरों

की स्थिति केवल गवर्नरों के सलाहकारों की रक्खी गयी है। प्रान्त के जितने भी बड़े-बड़े विभाग हैं उनकी अध्यक्षता के लिए पृथक सरकारी अफ़सर नियुक्त किये जाते हैं। जैसे कि इंस्पेक्टर-जनरल पुलिस, इंस्पेक्टर-जनरल जेल्स, इंस्पेक्टर-जनरल अस्पताल, रजिस्ट्रार कोआपरेटिव सोसायटीज़, कमिश्नर आफ़ एक्साइज़ डाइरेक्टर आफ़ पब्लिक इंस्ट्रक्शन, डाइरेक्टर लैंड रेकार्ड्स वग़ैरा-वग़ैरा। इनमें से ज़्यादातर जगहें उन आल-इंडिया सर्विसों के अफ़सरों के लिए सुरक्षित हैं, जिनकी भर्ती भारत-मंत्री द्वारा की जाती है। इसलिए इनसे अधिकांश जगहें न तो तोड़ी जा सकती हैं, और न उन पर किसी मिनिस्टर या धारा-सभा के किसी और सदस्य को नियुक्त किया जा सकता है।

इंग्लैंड के मिनिस्टरों की स्थिति और भारत के मिनिस्टरों की स्थिति में एक और बड़ा भारी भेद यह भी है कि जहाँ इंग्लैंड में मिनिस्टर केवल पार्लमेंट और निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायी होते हैं, भारत के मिनिस्टर एक ओर तो प्रान्त की धारा-सभा और निर्वाचकों के प्रति उत्तर-दायी होंगे दूसरी ओर उन्हें गवर्नर, वाइसराय, भारत-मंत्री, ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश पार्लमेंट के प्रति भी कुछ हद तक उत्तरदायी रहना पड़ेगा।

किस प्रान्त के मंत्रि-मंडल में कितने मिनिस्टर होंगे, इसका कोई उल्लेख न तो ऐक्ट में किया गया है और न गवर्नरों के आदेश-पत्रों में। अतः प्रत्येक प्रान्त का गवर्नर अपने प्रधानमंत्री की सलाह से प्रान्त के आवश्यकतानुसार जितने चाहे उतने मिनिस्टर नियुक्त कर सकता है।

प्रत्येक प्रान्त की धारा-सभा को ऐक्ट के द्वारा मिनिस्टरों के

वेतन और भत्तों को निश्चित करने का अधिकार हैं, लेकिन वह किसी भी मिनिस्टर के वेतन में उसकी अवधि से पूर्व कोई तब्दीली नहीं कर सकती। इसके अलावा मिनिस्टरों के वेतन के लिए हर साल प्रान्त की लेजिस्लेटिव असेंबली की मंज़ूरी लेने की भी ज़रूरत नहीं है, जिस प्रकार कि और खर्चों के लिए होती है। यह ध्यान रहे कि इंग्लैंड में ऐसा नहीं है। वहाँ हर एक मिनिस्टर के वेतन की पाई-पाई के लिए हर साल पार्लमेंट से मंज़ूरी लेनी पड़ती है, और यही वजह है कि इंग्लैंड के मिनिस्टर पार्लमेंट के प्रति सदा पूर्णरूप से उत्तरदायी रहते हैं

स्वदेश

नया और पुराना

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

[श्री कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर का परिचय देना व्यर्थ है। आपका जन्म १८६० ई० में हुआ था। आपने प्रसिद्ध विश्वभारती (शांति-निकेतन) बोलपुर में स्थापित किया। बोलपुर, बर्दवान (कलकत्ता) के पास है।

आपका प्रसिद्ध पद्य-ग्रन्थ गीतांजलि है जिसपर आपको 'नोबेल प्राइज़' मिला था।

आपने दर्जनों उपन्यास, कहानियाँ, नाटक, प्रहसन, काव्य तथा निबन्ध लिखे हैं। आप वर्तमान भारत के एक पूज्य ऋषि हैं।]

हम पुराने भारतवर्ष के लोग हैं; बहुत ही प्राचीन और बहुत ही थके हुए हैं। मैं बहुधा अपने में ही अपनी इस भारी जातीय प्राचीनता का अनुभव किया करता हूँ। मन लगाकर जब अपने

भीतर नज़र डालता हूँ तब देखता हूँ कि वहाँ केवल चिन्ता, विश्राम और वैराग्य है। मानों हमारी भीतरी और बाहरी शक्तियों ने एक लम्बी छुट्टी ले रक्खी है। मानों जगत के प्रातःकाल ही में हम लोग दफ़्तर का काम-काज कर आये हैं, इसीसे इस दोपहर की कड़ी धूप में, जब कि और सब लोग काम-काज में लगे हुए हैं, हम दरवाज़ा बन्द करके निश्चिन्त हो विश्राम या आराम कर रहे हैं; हमने अपनी पूरी तलब चुका ली है और पेन्शन पा गये हैं। बस, अब उसी पेन्शन पर गुज़ारा कर रहे हैं। मज़े में हैं।

इतने ही में एकाएक देख पड़ा कि हालत बदल गयी है। बहुत दिनों से ब्रह्मोत्तर में मिली हुई ज़मीन इस समय नये राजा की अमलदारी में ठीक-ठीक दलील पट्टा न दिखा सकने के कारण ज़ब्त हो गयी है। अचानक हम ग़रीब हो गये हैं। और सब किसान जैसे मेहनत-मज़दूरी करके मरते और मालगुज़ारी अदा करते हैं वैसे ही, वही, हमको भी करना होगा। पुरानी जाति को अब अचानक नयी चेष्टा करने के लिए विवश होना पड़ा है।

इसलिए अपनी चिन्ता रहने दो, विश्राम से उठो, घर का कोना छोड़ो। अब केवल व्याकरण, न्यायशास्त्र, श्रुति, स्मृति और गृहस्थों के नित्य और नैमित्तिक कामों को ही लिये पड़े रहने से काम नहीं चलेगा; मिट्टी के कड़े ढेले फोड़ो, धरती को उपजाऊ बनाओ और नये राजा को कर (टैक्स) दो; कालेजों में पढ़ो, होटलों में खाओ और आफ़िसों में नौकरी करो।

हाय ! भारतवर्ष की चहारदीवारी को तोड़कर इस खुले हुए काम-काज के मैदान में हम लोगों को लाकर किसने खड़ा कर दिया ! हम लोगों ने चारों ओर एक मानसिक बाँध बाँधकर कालस्रोत को बन्द कर दिया था और अपनी इच्छा के अनुसार हम अपना सब कुछ समेटे हुए लिये बैठे थे। भारतवर्ष के बाहर चंचल परिवर्तन, समुद्र की तरह दिन-रात गरजता था, पर हम लोग अटल स्थिरता में स्थिर रहकर गतिशील सारे संसार के अस्तित्व को भी भूले हुए बैठे थे। इसी समय न जाने किस छिद्र से चिर-अशान्त मानव-स्रोत हम लोगों में घुस आया और उसने हमारा सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। उसने पुराने में नया मिला दिया, विश्वास में संशय डाल दिया और सन्तोष में दुराशा का आक्षेप पटक दिया—इस प्रकार सब ही कुछ उलट-पुलट कर डाला !

मान लो कि यदि हमारे भारत के चारों ओर हिमालय और समुद्र की रुकावट और भी दुर्गम होती, तो यहाँ के लोग एक अज्ञात एकान्त घेरे में स्थिर शान्त भाव से एक प्रकार की संकुचित परिपूर्णता प्राप्त करने का अवसर पाते। वे संसार की ख़बर कुछ विशेष न जान पाते और भूगोल के सम्बन्ध में उनकी धारणा अधूरी रहती; केवल उनके काव्य, उनके समाजतन्त्र, उनके धर्मशास्त्र, उनके दर्शनशास्त्र एक अपूर्व शोभा-सुषमा और सम्पूर्णता को प्राप्त करते मानों पृथ्वी को छोड़कर और किसी छोटे गृह में निवास करते उनका इतिहास, उनका ज्ञान-विज्ञान और उनकी सुख-सम्पदा उन्हें

में परिपूर्ण रहती। जैसे समुद्र का एक अंश धीरे-धीरे चारों ओर मिट्टी की तह जम जाने से घिरकर एक एकान्त शांतिमय सुन्दर सरोवर बन जाता है, और वह तरंगरहित रहकर सुबह-शाम को विचित्र रंगों की छटा से जगमगाया करता है—अंधेरी रात के झलकते हुए स्थिर नक्षत्रों के प्रकाश में चुपचाप चिर-रहस्य की चिन्ता में डूबा रहता है। वही हाल यहाँ का होता।

यह सच है कि काल के प्रबल प्रवाह में, परिवर्तन कोलाहल के केन्द्र में, प्रकृति (Nature) की हज़ारों शक्तियों के रण की रंग-भूमि के बीच, क्षोभ को प्राप्त होने इधर-उधर टक्करें खाने से एक प्रकार की ख़ूब कड़ी शिक्षा और सभ्यता प्राप्त होती है; किन्तु यही कैसे कहा जा सकता है कि निर्जनता, निस्तब्धता और गम्भीरता में उतरने से कोई रत्न हाथ नहीं लगता?

इस आन्दोलन-पूर्ण संसार-सागर में ऐसी निस्तब्धता का अवसर कोई जाति नहीं पा सकी। जहाँ तक मैं समझता हूँ, केवल भारत ने ही एक समय दैव-संयोग से वह विच्छिन्नता प्राप्त कर—सबसे अलग होकर, संसार-सागर में गोता लगाया था और वही उसकी तह तक पहुँचा था। जैसे जगत् असीम है वैसे ही मनुष्य की आत्मा भी असीम है; अतएव जिन्होंने उस अप्रकट भीतरी भाग या देश का मार्ग खोज निकाला था, उन्होंने कोई नया सत्य, कोई नया आनन्द नहीं प्राप्त किया, यह कहना अत्यन्त अविश्वास की बात है।

भारतवर्ष उस समय एक ऐसी परीक्षाशाला के समान था

जिसका दर्वाज़ा बन्द हो और जो निर्जन तथा रहस्यमय हो। उसके भीतर एक परम सुन्दर सभ्यता की गुप्त रूप से परीक्षा हो रही थी। यूरोप के मध्ययुग में जैसे अल्केमी—तत्त्व की खोज करनेवाले लोगों ने गुप्त-गृहों के भीतर बन्द रहकर तरह तरह के यन्त्रों और तन्त्रों के द्वारा चिरजीवन रस (Elixir of Life) का आविष्कार करने की चेष्टा की थी वैसे ही हमारे देश के ज्ञानी पण्डितों ने गुप्त रूप से सावधानता के साथ आध्यात्मिक चिरजीवन पाने का उपाय ढूँढ़ा था। उन्होंने प्रश्न किया था कि—"येनाहं नामृतः स्याम् किमहम् तेन कुर्याम्" (जिसमें मैं अमर नहीं हो सकता उसे लेकर क्या करूँ?) और अत्यन्त कष्टसाध्य उपाय से अपने ही हृदय में उस अमृत रस की खोज करनी आरम्भ की थी।

उनकी उस खोज से क्या होता, इस बात को कौन जाने। 'अल्केमी' से 'केमिस्ट्री' की उत्पत्ति हुई है; वैसे ही उनकी उस तपस्या से मनुष्य की कौन-सी एक निगूढ़ नूतन शक्ति का आविष्कार होता सो अब कौन कह सकता है।

किन्तु एकाएक उसी खोज के समय दरवाज़ा तोड़कर बाहर के उद्यमी लोग भारतवर्ष की उस पवित्र परीक्षाशाला में ज़बर्दस्ती घुस आये और उस खोज का नतीजा सर्वसाधारण के निकट अप्रकाशित ही रह गया। नहीं कहा जा सकता कि आजकल नयी अपार सभ्यता में उस परीक्षा के लिए वैसा प्रशान्त अवसर कभी फिर मिलेगा या नहीं।

पृथ्वी के और लोगों ने उस परीक्षाशाला में प्रवेश करके

क्या देखा? देखा एक बूढ़ा तपस्वी बैठा है; कपड़े नहीं हैं, आभूषण नहीं हैं, पृथ्वी के इतिहास की विशेष अभिज्ञता नहीं है। वह जो कुछ कहना चाहता है उसकी कोई प्रतीति करानेवाली भाषा नहीं है, प्रत्यक्ष करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है और समझ में आने योग्य कोई परिणाम या नतीजा नहीं है।

यह देखकर वे कहने लगे कि हे वृद्ध, हे चिन्तातुर, हे उदासीन, तुम उठो, पोलिटिकल एजिटेशन अर्थात् राजनैतिक आन्दोलन करो, अथवा दिन की नींद में पड़े-पड़े अपने पुराने जवानी के प्रताप की घोषणा करते हुए शिथिल पुरानी हड्डियों के बल पर बल को—ख़म ठोको। देखो, उससे तुम्हारी लज्जा निवृत्त होती है कि नहीं।

किन्तु मुझे बाहरी लोगों के इस उपदेश पर श्रद्धा या प्रवृत्ति नहीं होती। केवल अख़बारों की पाल चढ़ाकर दुस्तर संसार-सागर में यात्रा आरंभ करने का मुझे साहस नहीं होता। यह सच है कि जब धीमी और अनुकूल हवा चलती है तब यह ख़बर के काग़ज़ों की पाल गर्व से फूल उठती है, किन्तु जब कभी समुद्र में तूफ़ान आवेगा तब वह दुर्बल दम्भ सैकड़ों जगह से फटकर बेकाम हो जायगा।

यदि पास ही कहीं उन्नति नामक पक्का बन्दरगाह होता और वहाँ पर किसी तरह पहुँचते ही, 'दही-पेड़ा दीयतां और भज्यतां', की व्यवस्था होती, तो चाहे अवसर सोचकर, आकाश का रंग-ढंग देखकर अत्यन्त चतुरता और सावधानी के साथ एक बार पार होने की चेष्टा भी की जाती। किन्तु जब यह जानते हैं कि इस उन्नति के

मार्ग में यात्रा का अन्त नहीं है; कहीं पर नाव बाँधकर नींद लेने का स्थान नहीं है; ऊपर केवल ध्रुवतारा चमक रहा है और सामने केवल अन्तहीन समुद्र की जलराशि है; हवा प्रायः प्रतिकूल ही चला करती है और लहरें सदा भारी वेग से उठा करती हैं, तब बैठे-बैठे केवल फुलस्केप काग़ज़ की नाव तैयार करने को जी नहीं चाहता।

तथापि इस सागर में नाव चलाने की इच्छा होती है। जब देखता हूँ कि मनुष्य-प्रवाह चला जा रहा है, चारों ओर विचित्र कल्लोल, प्रचण्ड वेग, प्रबलगति और विश्रामरहित कर्म की छटा दिखाई पड़ रही है तब मेरा भी मन नाच उठता है; तब जी चाहता है कि बहुत वर्षों के गृहबन्धन को तोड़-ताड़कर एकदम बाहर निकल पड़ूँ। किन्तु उसके बाद ही अपने को खाली हाथ देखकर सोचता हूँ कि राह ख़र्च कहाँ है! हृदय में वह असीम आशा, जीवन में वह न थकनेवाला बल, और विश्वास का वह अटल प्रभाव कहाँ है! तब तो पृथ्वी के एक कोने में यह हमारा अज्ञात-वास ही भला है, यह स्वल्प संतोष और निर्जीव ही हमारे लिए ग़नीमत है।

तब बैठे-बैठे मन को यही कहकर समझाता हूँ कि हम यद्यपि यन्त्र (कलें) नहीं तैयार कर सकते, जगत् के गूढ़ तत्त्वों का आविष्कार नहीं कर सकते; किन्तु प्रेम कर सकते हैं, क्षमा कर सकते हैं, एक दूसरे के लिए अपनी जगह छोड़कर, जगह दे सकते हैं। फिर दुःसाध्य निराशा से अस्थिर होकर भटकते-फिरने की क्या ज़रूरत है?

बुराई क्या है, हम एक किनारे ही पड़े रहेंगे। टाइम्स के जगत-प्रकाशक कालमों में हमारा नाम न छपेगा, न सही।

किन्तु प्रश्न यह होता है कि जब दुख है, दारिद्र्य है, प्रबल का अत्याचार है, असहाय के भाग्य में अपमान है, तब केवल एक किनारे बैठे-बैठे घर का काम और अतिथि-सत्कार करते रहने से कैसे काम चलेगा? इन दुखों का प्रतिकार कैसे होगा?

हाय, यही तो भारतवर्ष को असह्य दुख है। हम किससे लड़ेंगे? रूढ़ मनुष्य-प्रकृति की चिरकाल की निठुराई के साथ? ईसा-मसीह का पवित्र रक्त-प्रवाह भी जिसकी निकम्मी कठिनता को आज तक कोमल न बना सका उस पत्थर के साथ? प्रबलता हमेशा से निर्बल के प्रति दयाहीन रही है; हम उसी आदिम पशु-प्रकृति को कैसे जीतेंगे? सभाएँ करके? या प्रार्थना करके? आज ज़रा-सी भीख पाकर और कल एक गहरी डाँट खाकर? नहीं, यह कभी न होगा।

तब फिर कैसे जीतेंगे? प्रबल के बराबर सबल होकर? हाँ, यह हो सकता है। किन्तु जब विचार करके देखता हूँ कि यूरोप कितना प्रबल है और किन-किन कारणों से प्रबल है; जब इस दुर्दम्य शक्ति को कभी शरीर और मन से, सम्पूर्ण रूप से, अनुभव करके देखता हूँ तब फिर आशा नहीं होती। जी में आता है कि आओ भाई, सहनशील होकर रहें—सबको प्यार करें—नेकी करें। हम पृथ्वी पर जो कुछ काम करें, उसे सचाई के साथ करें, ढोंग न करें। क्योंकि असमर्थ के लिए मुख्य विपत्ति यही है कि वह कोई

भारी काम नहीं कर पाता। इसी कारण भारी ढोंग को अच्छा समझता है। वह नहीं जानता कि मनुष्यत्व प्राप्त करने के लिए भारी झूठ की अपेक्षा छोटा सत्य अधिक मूल्यवान—अधिक काम की चीज़ है।

मैं उपदेश देने नहीं बैठा हूँ। मैं केवल यही देखने की चेष्टा करता हूँ कि हमारी असली हालत क्या है। किन्तु उसे देखने के लिए न तो प्राचीन वेद, पुराण, संहिता आदि खोलकर उनमें से मनमाने—अपने मतलब के श्लोक एकत्र करके किसी एक कल्पनामय काल की सृष्टि करनी होगी, और न अन्य जाति की प्रकृति और इतिहास के साथ अपनी कल्पना मिलाकर; अपने को उसी में लीन करके, इस नवीन शिक्षा की कमज़ोर नींव पर भारी दुराशा का क़िला खड़ा करने की ज़रूरत है। हमको केवल यही देखना होगा कि हम कहाँ पर हैं। हम जहाँ पर स्थित हैं, वहाँ पर पूर्व दिशा से भूतकाल की ओर पश्चिम दिशा से भविष्यत की मरीचिकाएँ आकर हमको अपनी-अपनी ओर आकृष्ट कर रही हैं। इन दोनों को भरोसा करने योग्य 'सत्य' न जानकर एक बार हमें यह देखना चाहिए कि हम वास्तव में किस मिट्टी पर खड़े हुए हैं।

हम एक बहुत ही जीर्ण और प्राचीन नगर में निवास करते हैं। इतना पुराना नगर है कि उसका इतिहास लुप्तप्राय हो गया है; मनुष्यों के हस्तलिखित उसके सारे स्मृतिचिह्न काई से ढक गये हैं। इसीसे भ्रम होता है कि मानों यह नगर मनुष्यों के इतिहास से परे है—यह मानों अनादि 'प्रकृति' की पुरानी राजधानी है। मनुष्यों के

इतिहास की रेखा मिटाकर प्रकृति ने अपने श्यामवर्ण के अक्षर इसके सब अंगों में विचित्र आकार से सजा रक्खे हैं। यहाँ हज़ारों वर्ष की वर्षा-ऋतुएँ अपने आँसुओं के चिह्नों की रेखाएँ रख गयी हैं और हज़ारों वर्ष की वसन्त ऋतुएँ इसकी दीवार की हर एक दरार में अपने आने जाने की मितियाँ हरे रंग के अंकों में अंकित कर गयी हैं। यदि एक ओर से इसे नगर कह सकते हैं तो दूसरी ओर से जङ्गल भी कह सकते हैं। यहाँ केवल छाया और विश्राम, चिन्ता और विषाद रह सकते हैं। यहाँ झींगुरों की झनकार से गूँजते हुए जंगलों में—यहाँ विचित्र आकारोंवाली जटाओं से व्याप्त शाखा-प्रशाखाओं और रहस्यमय पुराने महलों की दीवारों में सैकड़ों हज़ारों छायाओं में काया का और कायाओं में माया का भ्रम होता है। यहाँ की इस सनातन महती छाया में सत्य और कल्पना ने भाई और बहन की तरह विरोध-रहित भाव से आश्रय पाया है। अर्थात् यहाँ प्रकृति के विश्वकार्य और मनुष्य की मानसिक सृष्टि, दोनों ने परस्पर हिलमिलकर अनेक आकार के छायाकुंजों की रचना की है। यहाँ लड़की-लड़के दिन भर खेला करते हैं, किन्तु यह नहीं जानते कि यह खेल है। ऐसे ही सयाने लोग रात-दिन स्वप्न देखते हैं; पर उसे स्वप्न न समझकर 'कर्म' समझते हैं। जगत के मध्याह्न-सूर्य का प्रकाश छिद्र-मार्ग से प्रवेश करके केवल छोटी-छोटी मणियों की तरह झलकता दिखाई देता है और प्रबल आँधी सैकड़ों तंग डालियों के बीच में टकराकर मन्द मर्मर-ध्वनि-सी जान पड़ती है।

यहाँ जीवन और मृत्यु, सुख और दुख, आशा और निराशा की सीमा के चिह्न मिट-से गये हैं; अदृष्टवाद और कर्मकाण्ड—वैराग्य और गृहस्थाश्रम एक ही साथ चल रहे हैं। यहाँ आवश्यक और अनावश्यक ने, ब्रह्म और मिट्टी के पुतले ने, छिन्नमूल सूखे हुए भूतकाल और जिसमें नयी कोंपलें निकल रही हैं ऐसे सजीव वर्तमान-काल ने समान आदर पाया है। शास्त्र जहाँ पड़ा है वहीं पड़ा हुआ है। जिस जगह शास्त्र को ढककर हज़ारों प्रथा-रूप कीड़ों ने अपना घर बना लिया है, वहाँ पर भी अपना कोई आलस्यमयी भक्ति के मारे हाथ नहीं डालता—सफ़ाई नहीं करता। यहाँ ग्रन्थों के अक्षर और उन ग्रन्थों में लगे हुए कीड़ों के छेद, दोनों ही समान सन्मान के पात्र हैं। यहाँ के पीपल के पेड़ों मे दरार खाये हुए और टूटे-फूटे पड़े हुए मन्दिरों में देवता और उपदेवता, दोनों ही एकत्र आश्रय को प्राप्त होकर विराजमान हैं।

यह क्या तुम्हारे सांसारिक समर की छावनी डालने की जगह है? यहाँ की गिरी हुई दीवार क्या तुम्हारे कल-कारखानों के—तुम्हारे आग की साँस लेनेवाले सहस्रबाहु लौह-दानवों के कारागार बनाने के योग्य है? यह सच है कि अस्थिर उद्योग के वेग से तुम इसकी पुरानी ईंटों को मिट्टी में मिला दे सकते हो; किन्तु यह तो बताओ कि फिर पृथ्वी की यह अत्यन्त प्राचीन शय्याशायिनी (बिछौनों पर पड़ी रहनेवाली) जाति कहाँ जाकर खड़ी होगी? याद रक्खो, ज्यों ही यह चेष्टाहीन नगररूपी घना जंगल नष्ट

होगा त्यों ही बूढ़ा ब्रह्मराक्षस जो यहाँ सदा के सुनसान स्थान में हज़ारों वर्षों से एकान्तवास कर रहा है, एकाएक आश्रयहीन हो जायगा।

यहाँ के लोगों ने बहुत दिनों से अपने हाथों गृहनिर्माण नहीं किया; वह अभ्यास इनको नहीं है और इनमें के बहुतेरे अधिक विचारशील लोगों को यही एक बड़ा गर्व है। वे लोग जो इस बात को लेकर पुच्छ-लेखनी फटकारते हैं सो बिलकुल ठीक है—उसका प्रतिवाद किसी से नहीं हो सकता। सचमुच ही इन लोगों को अपने अत्यन्त प्राचीन आदि पुरुषों की बस्ती कभी छोड़नी नहीं पड़ी। समय के फेर से यद्यपि अनेक ऊँची-नीची अवस्थाओं का सामना करना पड़ा है, अनेक नये सुभीते और अड़चनें आकर उपस्थित हुई हैं; किन्तु इन्होंने सबको खींच-खाँचकर, मृत जीवित को, सुभीतों और अड़चनों को, जी-जान से एकत्र कर अपने बाप-दादाओं की बनायी हुई उसी एक ही दीवार में चुन रक्खा है। इस प्रकार की बात कभी, इनके शत्रुपक्ष के लोगों के मुँह से भी नहीं सुनी जाती कि इन्होंने कभी अड़चन में पड़कर भी अपने सुभीते के लिए, औरों से लाग-डाँट करके अपने हाथ से कोई नया घर बनाया या पुराने घर की मरम्मत, अर्थात् संस्कार किया है। घर की छत में जहाँ छिद्र दिखाई पड़ा है वहाँ आपसे आप उगे हुए बरगद के पेड़ की शाखा ने कभी छाया कर दी है और कभी धीरे-धीरे जमी हुई मिट्टी की तह ने उस छिद्र को थोड़ा बहुत बन्द कर दिया है; लेकिन इन्होंने कभी उधर ध्यान नहीं दिया।

इस वनलक्ष्मी से शून्य घने वन में, इस पुरलक्ष्मी से सूनी टूटी-फूटी पुरी में हम धोती पहनकर चादर ओढ़कर बहुत ही धीरे धीरे टहलते हैं, भोजन के बाद ज़रा सो लेते हैं, छाँह में बैठकर गंजीफा—चौसर खेलते हैं। जो कुछ असम्भव और संसारी काम-काज के बाहर है उस पर झटपट विश्वास कर लेना हमें पसन्द है। जो कुछ काम के लायक और आँख के सामने है, उसके प्रति हमारे मन का अविश्वास किसी प्रकार अच्छी तरह से दूर नहीं होता। और इसके ऊपर अगर कोई लड़का ज़रा भी चञ्चलता प्रकट करता है तो हम सब मिलकर सिर हिला-हिलाकर कहते हैं—'सर्वमत्यन्तगर्हितम्'।

इसी समय तुम लोग एकाएक न जाने कहाँ से आकर कूद पड़े और हमारे जीर्ण अस्थिपञ्जर में ज़ोर से दो तीन खोंचे मारकर कहते हो कि, "उठो, उठो; तुम्हारे सोने के कमरे में हम ऑफ़िस (Office) खोलना चाहते हैं। तुम सोते थे, किन्तु सारा संसार नहीं सोता था। इस बीच में, जगत में अनेक परिवर्तन हो गये हैं। सुनो, वह घंटी बज रही है; यह पृथ्वी की दुपहरिया है। काम करने का समय है।"

तुम्हारे कथन को सुनकर हममें से कुछ लोग जल्दी से उठ-कर "कहाँ काम है? कहाँ काम है?" कहते हुए घर के चारों कोनों में व्यस्त भाव से दौड़-धूप कर रहे हैं और उनमें से जो ज़रा मोटे-ताज़े और घमंडी हैं वे करवट बदलकर कहते हैं—"कौन हो जी! काम की बात कौन कहता है? तो क्या तुम यह कहना चाहते हो कि हम लोग कामकाजी आदमी नहीं हैं? तुम्हारा यह

भारी भ्रम है। भारतवर्ष को छोड़कर काम करने का स्थान और कहीं नहीं है। देखते क्यों नहीं, मानव इतिहास के प्रथम युग में आर्यों और अनार्यों का युद्ध यहीं हो गया है; यहीं कितने ही राज्यों की स्थापना, कितने ही नीति-धर्मों का अभ्युदय और कितनी ही सभ्यताओं का संग्राम हो गया है। भाई, केवल हम लोग ही काम के आदमी हैं। अतएव हमसे अब काम करने के लिए मत कहो। अगर तुमको विश्वास न हो तो तुम लोग बल्कि एक काम करो—अपने पैने ऐतिहासिक फावड़े से भारत-भूमि की अनेक युगसञ्चित विस्मृति की तह खोदकर देख लो कि मनुष्य-सभ्यता की दीवार में कहाँ-कहाँ हम लोगों के हाथों का चिह्न है। हम लोग तब तक इसी तरह एक झपकी और ले लें।"

इसी तरह हम लोगों में से कोई-कोई आधे अचेत जड़मूढ़, दाम्भिक भाव से, ज़रा ज़रा खुली, नींद-भरी आँखों से, आलस्य-पूर्ण अस्पष्ट रुष्ट हुंकार से, जगत में जो दिन का प्रकाश फैला हुआ है उसका अनादर या उपेक्षा कर रहे हैं, और कोई कोई गहरी आत्म-ग्लानि के साथ अपनी ढीली रगों के चेष्टाहीन उद्यम-उत्साह को बारम्बार पीटकर जगाने की चेष्टा कर रहे हैं। और जो लोग जाग्रत् अवस्था में स्वप्न देखनेवाले हैं—जो लोग कर्म और विचार के बीच में अस्थिर चित्त से डग-मगा रहे हैं—जो लोग पुराने की जीर्णता देख पाते हैं और नवीन की असम्पूर्णता का भी अनुभव करते हैं, वे अभागे बारंबार सिर हिला-हिलाकर कहते हैं:—

"हे! नये आदमियो! तुमने जो नयी कार्रवाई शुरू कर दी है उसकी समाप्ति तो अभीतक नहीं हुई; उसमें क्या सच है और क्या झूठ—इसका फ़ैसला तो अभी तक नहीं हुआ; मनुष्य के भाग्य की चिरकाल से चली आती हुई समस्याओं में से तो किसी एक की भी मीमांसा नहीं हुई। फिर हम अभी तुम्हारे अनुयायी कैसे बनें?

"तुमने बहुत कुछ जाना और बहुत कुछ पाया है, किन्तु यह तो बताओ कि कुछ सुख भी पाया है? हम जिस विश्व-ब्रह्माण्ड को 'माया' माने बैठे हैं उसी को तुम निश्चित सत्य मानकर काम में जान दे रहे हो; तुम क्या हमसे अधिक सुखी हुए हो? तुम जो नित्य नयी-नयी आवश्यकताओं का आविष्कार करके ग़रीबों की ग़रीबी दिन-दिन बढ़ा रहे हो; अपने को घर के स्वास्थ्यजनक आश्रय से विश्राम-शून्य कर्म की उत्तेजना में घसीटे लिए जा रहे हो, कर्म को ही सारे जीवन का स्वामी बनाकर उन्माद (बावलेपन या जोश) को विश्राम के स्थान पर बिठा रहे हो, तो क्या तुम स्पष्टरूप से यह जानते हो कि तुम्हारी यह उन्नति तुमको कहाँ लिये जा रही है?

"हम लोग अच्छी तरह जानते हैं कि हम कहाँ आ पहुँचे हैं। हम लोगों की ज़रूरत बहुत ही थोड़ी है। हम अपने घरों में गाढ़े स्नेह से, परस्पर एक दूसरे के साथ मिले हुए, अपने नित्य-नैमित्तिक छोटे-मोटे आवश्यक कर्तव्यों का पालन करते जाते हैं। हम लोगों की जितनी सुख-समृद्धि है उसको हम लोगों ने—अमीर और

ग़रीब, निकट-सम्बन्धी और दूर-सम्बन्धी, अतिथि, अनुचर और भिक्षुक सबसे मिलकर बाँट लिया है। जहाँ तक हो सकता है, हम लोग यथासम्भव सुख से जीवन बिता रहे हैं। हम लोगों में कोई किसी को त्याग करना नहीं चाहता, और जीवन की आँधी में पड़कर, उसके झपेटे में, कोई किसी को छोड़ने के लिए लाचार भी नहीं होता।

"भारतवर्ष ने सुख कभी नहीं चाहा; उसने सन्तोष चाहा था। वह उसे मिल भी गया है। भारतवर्ष, सब जगह सब तरह सन्तोष की स्थापना भी कर चुका है। अब उसे कुछ करने के लिए बाक़ी नहीं है। वह अपने विश्राम-भवन में बैठे-बैठे तुम लोगों के उन्माद-पूर्ण जीवन-विप्लव को देखकर तुम्हारी सभ्यता की अन्तिम सफलता के सम्बन्ध में मन ही मन संशय का अनुभव भले ही कर सकता है। वह सोच सकता है किसी समय अन्त को जब एक दिन तुम लोगों को अपना कामकाज बन्द करना होगा, तब तुम लोग क्या इसी तरह धीरे से, इसी तरह सहज में ऐसे ही विश्राम को प्राप्त कर सकोगे? क्या हमारी तरह ऐसी सहृदय परिणति या पूर्णता पा सकोगे? जिस तरह 'उद्देश्य' धीरे-धीरे 'लक्ष्य' पर पहुँचकर समाप्त हो जाता है, गरम दिन जिस तरह सौन्दर्यपूर्ण होकर सन्ध्या के अन्धकार में डूब जाता है, वैसी ही मधुर समाप्ति क्या तुम पा सकोगे? या जैसे 'कल' एकाएक बिगड़कर बन्द हो जाती है, जैसे लगातार बढ़ती हुई आग और गरमी जमा होने से एकाएक इंजिन फट जाता है, जैसे एक ही लाइन पर आमने-सामने से आती

हुई दो रेलगाड़ियाँ आपस की टक्कर से अचानक चूर चूर हो जाती हैं उसी तरह प्रबल वेग में एक दारुण अपघात से तुम्हारी समाप्ति होगी।

"जो कुछ हो, तुम लोग इस समय एक अपरिचित समुद्र में उसके अप्रकट किनारे की खोज में चले हो, इसलिए यही अच्छा होगा कि अपनी राह जाओ और हम अपने घर में रहें।"

किन्तु भाई भारत-वासियो! मनुष्य, मनुष्य को इस तरह रहने कब देता है? तुम जिस समय विश्राम करना चाहते हो उस समय पृथ्वी के और लोग तो थके हुए नहीं हैं। गृहस्थ जिस समय नींद के मारे बेचैन है उस समय आवारा लोग तरह-तरह के उपद्रव करते हुए राह-राह मारे-मारे फिरते हैं।

इसके सिवा यह भी स्मरण रखना चाहिए कि तुम पृथ्वी में जहाँ आकर ठहरोगे वहीं से तुम्हारा ध्वंस होना आरंभ हो जायगा। क्योंकि तुम्हीं अकेले ठहरोगे, और कोई नहीं ठहरेगा। यदि तुम जगत्प्रवाह के साथ समान-गति से नहीं चल सकते तो सारे प्रवाह का दौड़ता हुआ वेग तुम पर आकर पड़ेगा; उसके धक्के से तुम या तो टूट-फूटकर उलट-पलट जाओगे, और या धीरे-धीरे क्षय को प्राप्त होकर कालस्रोत की तली में डूब जाओगे। इस कारण या तो लगातार चलो और जीवन की चर्चा करो, और नहीं तो विश्राम करो और मिट जाओ। पृथ्वी पर का ऐसा ही नियम है।

महाजनी सभ्यता

प्रेमचन्दजी

[उपन्यास-सम्राट श्री स्व० प्रेमचन्दजी का जन्म १८८३ ई० में बनारस ज़िले में हुआ। आपकी मृत्यु भी १९३६ में बनारस में ही हुई।

प्रेमचन्दजी के उपन्यास और कहानियों के बारे में हर एक हिन्दी-प्रेमी थोड़ा-बहुत जानता है। अपनी रचनाओं में उन्होंने ग़रीबों और शोषितों का पक्ष लिया है। मगर आप समाजवाद या साम्यवाद के ऐसे कट्टर उपासक थे, यह इसी लेख से मालूम पड़ता है।

आप एक दर्जन के क़रीब उपन्यास और तीन सौ के क़रीब कहानियों के रूप में अब भी जीवित हैं और आगे भी जीवित रहेंगे। 'हंस' आप ही की चलायी हुई पत्रिका है। आपकी भाषा के बारे में यह कहने की ज़रूरत नहीं कि यही सच्ची हिन्दुस्तानी है और यही राष्ट्र-भाषा का आदर्श रूप है; यही भाषा मूक जनता की समझ में आनेवाली भाषा है। रचनाएँ :—

नाटक—संग्राम, कर्बला, प्रेम की वेदी। **उपन्यास**—सेवासदन, प्रेमाश्रम, निर्मला, प्रतिज्ञा, ग़बन, रंगभूमि, कर्मभूमि, गोदान आदि।

कहानी संग्रह—सप्त-सरोज, नवनिधि, प्रेम-पंचमी, प्रेम-पच्चीसी, प्रेम-द्वादशी, प्रेम-प्रसून, मान-सरोवर आदि। आपके कुछ फुटकर निबन्ध भी हैं।]

जागीरदारी सभ्यता में बलवान् भुजाएँ और मज़बूत कलेजा जीवन की आवश्यकताओं में परिगणित थे, और साम्राज्यवाद में बुद्धि और वाणी के गुण तथा मूक आज्ञापालन उसके आवश्यक साधन थे; पर उन दोनों स्थितियों में दोषों के साथ कुछ गुण भी थे। मनुष्य के अच्छे भाव लुप्त नहीं हो गये थे। जागीरदार अगर

दुश्मन के ख़ून से अपनी प्यास बुझाता था, तो अकसर अपने किसी मित्र या उपकारक के लिए जान की बाज़ी भी लगा देता था। बादशाह अगर अपने हुक्म को क़ानून समझता था और उसकी अवज्ञा को कदापि सहन न कर सकता था, तो प्रजा-पालन भी करता था, न्यायशील भी होता था। दूसरे के देश पर चढ़ाई वह या तो किसी अपमान-उपकार का बदला फेरने के लिए करता था या अपनी आन-बान, रोबदाब क़ायम रखने के लिए या फिर देश-विजय और राज-विस्तार की वीरोचित महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होता था। उसकी विजय का उद्देश्य प्रजा का ख़ून चूसना कदापि न होता था। कारण यह कि राजा और सम्राट जनसाधारण से अपने स्वार्थसाधन और, धनशोषण की भट्टी का इंधन न समझते थे; किन्तु उनके सुख-दुख में शरीक होते ते और उनके गुणों की क़द्र करते थे।

मगर इस महाजनी सभ्यता में तो सारे कामों की गरज़ महज़ पैसा होती है। किसी देश पर राज्य किया जाता है, तो इसलिए कि महाजनों, पूँजी-पतियों को ज़्यादा से-ज़्यादा नफ़ा हो। इस दृष्टि से मानो आज दुनियाँ में महाजनों का ही राज्य है। मनुष्य-समाज दो भागों में बँट गया है। बड़ा हिस्सा तो मरने और खपनेवालों का है, और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का, जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े समुदाय को अपने बस में किये हुए हैं। इन्हें इस बड़े भाग के साथ किसी तरह की हमदर्दी नहीं, ज़रा भी रू-रियायत नहीं। उसका अस्तित्व केवल इसलिए है कि अपने

मालिकों के लिए पसीना बहाये, ख़ून गिराये और एक दिन चुपचाप इस दुनियाँ से बिदा हो जाय। अधिक दुख की बात तो यह है कि शासक-वर्ग के विचार और सिद्धान्त शासित वर्ग के भीतर भी समा गये हैं, जिसका फल यह हुआ है कि हर आदमी अपने को शिकारी समझता है और उसका शिकार है समाज। वह ख़ुद समाज से बिलकुल अलग है, अगर कोई सम्बन्ध है, तो यह कि किसी चाल या युक्ति से वह समाज को उल्लू बनावे और उससे जितना लाभ उठाया जा सकता हो, उठा ले।

धन-लोभ ने मानव भावों को पूर्णरूप से अपने अधीन कर लिया है। कुलीनता और शराफ़त, गुण और कमाल की कसौटी पैसा, और केवल पैसा है,वह देवता स्वरूप है, उसका अन्तःकरण कितना ही काला क्यों न हो। साहित्य, संगीत और कला—सभी धन की देहली पर माथा टेकनेवालों में हैं। यह हवा इतनी ज़हरीली हो गयी है कि इसमें जीवित रहना कठिन होता जा रहा है। डॉक्टर और हकीम है कि वह बिना लंबी फ़ीस लिये बात नहीं करता। वकील बारिस्टर है कि वह मिनटों को अशर्फ़ियों से तौलता है। गुण और योग्यता की सफलता उसके आर्थिक मूल्य के हिसाब से मानी जा रही है। मौलवी साहब और पंडितजी भी पैसेवालों के बिना पैसे के गुलाम हैं। अख़बार उन्हीं का राग अलापते हैं। इस पैसे ने आदमी के दिलो-दिमाग़ पर इतना कब्ज़ा जमा लिया है कि उसके राज्य पर किसी ओर से भी आक्रमण करना कठिन दिखाई

देता है। वह दया और स्नेह, सचाई और सौजन्य का पुतला मनुष्य, दया-ममता शून्य जड़-यन्त्र बनकर रह गया है। इस महाजनी सभ्यता ने नये नये नीति-नियम गढ़ लिये हैं; जिन पर आज समाज की व्यवस्था चल रही है, उनमें से एक यह है कि समय ही धन है। पहले समय जीवन था, और उसका सर्वोत्तम उपयोग विद्या-कला का अर्जन अथवा दीन-दुखी जनों की सहायता था। अब उसका सब से बड़ा सदुपयोग पैसा कमाना है। डॉक्टर साहब हाथ मरीज़ की नब्ज़ पर रखते हैं और निगाह घड़ी की सूई पर। उनका एक-एक मिनट अशर्फ़ी है। रोगी ने अगर केवल एक अशर्फ़ी नज़र की है, तो वह उसे एक मिनट से ज़्यादा वक्त नहीं दे सकते। रोगी अपनी दुख-गाथा सुनाने के लिए बेचैन है; पर डाक्टर साहब का उधर बिलकुल ध्यान नहीं, उन्हें उससे ज़रा भी दिलचस्पी नहीं, उनकी निगाह में उस व्यक्ति का अर्थ केवल इतना ही कि वह इन्हें फ़ीस देता है। वह जल्द-से-जल्द नुस्खा लिखेंगे और दूसरे रोगी को देखने चले जायँगे। मास्टर साहब पढ़ाने आते हैं, उनका एक घंटा बँधा है। वह घड़ी सामने रख लेते हैं, जैसे ही घण्टा पूरा हुआ, वह उठ खड़े हुए। लड़के का सबक़ अधूरा रह गया है तो रह जाय, उनकी बला से, वह एक घण्टे से अधिक समय कैसे दे सकते हैं, क्योंकि समय रुपया है। इस धन-लोभ ने मनुष्यता और मित्रता का नाम शेष कर डाला है। पति को पत्नी या लड़कों से बात करने की फ़ुर्सत नहीं, मित्र और

सम्बन्धी किस गिनती में हैं। जितनी देर वह बातें करेगा, उतनी देर में तो कुछ कमा लेगा। कुछ कमा लेना ही जीवन की सार्थकता है, शेष सब कुछ समय नाश है। बिना खाये-सोये काम नहीं चलता, बेचारा इसमें लाचार है और इतना समय नष्ट करना ही पड़ता है।

आपका कोई मित्र या सम्बन्धी अपने नगर में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है, तो समझ लीजिये, उसके यहाँ अब आपकी रसाई मुमकिन नहीं। आपको उसके दरे-दौलत पर जाकर कार्ड भेजना होगा। उन महाशय को बहुत से काम होंगे। मुश्किल से आप से एक-दो बातें करेंगे या साफ़ जवाब दे देंगे कि आज फ़ुरसत नहीं है। अब वह पैसे के पुजारी हैं, मित्रता और शील-सङ्कोच के नाम पर कब की तिलांजली दे चुके हैं।

आपका कोई दोस्त वकील है और आप किसी मुक़द्दमे में फँस गये हैं, तो उससे किसी प्रकार की सहायता की आशा न रखिये। अगर वह मुरौवत को गंगा में डुबा नहीं चुका है, तो आपसे देन-लेन की बात शायद न करेगा; पर आपके मुक़द्दमे की ओर तनिक भी ध्यान न देगा। इससे तो कहीं अच्छा है कि आप किसी अपरिचित के पास जायँ और उसकी पूरी फ़ीस अदा करें। ईश्वर न करे कि आज किसी को किसी चीज़ में कमाल हासिल हो जाय, फिर उसमें मनुष्यता नाम को न रह जायगी. उसका एक-एक मिनट क़ीमती हो जायगा।

इसका अर्थ यह नहीं कि व्यर्थ की गपशप में समय नष्ट किया

जाय ; पर यह अर्थ अवश्य है कि धन-लिप्सा को इतना बढ़ने न दिया जाय कि वह मनुष्यता, मित्रता, स्नेह-सहानुभूति सबको निकाल बाहर करे।

पर आप उस पैसे के ग़ुलाम को बुरा नहीं कह सकते। सारी दुनियाँ जिस प्रवाह में बह रही है, वह भी उसी में बह रहा है। मान-प्रतिष्ठा सदा से मानवीय आकांक्षाओं का लक्ष्य रहा है। जब विद्या-कला मान-प्रतिष्ठा का साधन थी, उस समय लोग इन्हीं का अर्जन-अभ्यास करते थे। जब धन उसका एकमात्र उपाय है, तब मनुष्य मज़बूर है कि एकनिष्ठ भाव से उसी की उपासना-आराधना करे। वह कोई साधु-महात्मा, संन्यासी-उदासी नहीं; वह देख रहा है कि उसके पेशे में जो सौभाग्यशाली सफलता की कठिन यात्रा पूरी कर सके हैं, वह उसी राजमार्ग के पथिक थे, जिस पर वह खुद चल रहा है। समय धन है एक सफल व्यक्ति का। वह इस सिद्धान्त का अनुसरण करता है, तो उसका क्या दोष? मान-प्रतिष्ठा की लालसा तो दिल से मिटायी नहीं जा सकती। वह देख रहा है कि जिनके पास दौलत नहीं, और इसलिए नहीं कि उन्होंने वक्त को दौलत नहीं समझा उसको कोई पूछनेवाला नहीं। वह अपने पेशे में उस्ताद है फिर भी उसकी कहीं पूछ नहीं। जिस आदमी में तनिक भी यौवन की आकांक्षा है वह तो इस अपेक्षा की स्थिति सहन नहीं कर सकता। उसे तो मुरौवत, दोस्ती और सौजन्य को धता बताकर लक्ष्मी की आराधना में अपने को लीन कर देना होगा। तभी इस देवी का वरदान उसे मिलेगा। और यह कोई इच्छाकृत कार्य

नहीं; किन्तु सर्वथा बाध्यकारी है। उसके मन की अवस्था अपने आप कुछ इस तरह की हो गयी है कि उसे धनार्जन के सिवा और किसी काम मे लगाव नहीं रहा। अगर उसे किसी सभा या व्याख्यान में आध घण्टा बैठना पड़े, तो समझ लो, वह क़ैद की घड़ी काट रहा है। उसकी सारी मानसिक भागवत और सांस्कृतिक दिलचस्पियाँ किसी केन्द्र-बिन्दु पर आकर एकत्र हो गयी हैं। और क्यों न हो? वह देख रहा है कि पैसे के सिवा उसका और कोई अपना नहीं। स्नेही मित्र भी अपनी ग़रज़ लेकर ही उसके पास आते हैं, स्वजन सम्बन्धी भी उसके पैसे के ही पुजारी हैं। वह जानता है कि अगर वह निर्धन होता, तो यह जो दोस्तों का जमघट लग रहा है, उनमें से एक के भी दर्शन न होते, इन स्वजन-संबन्धियों में से एक भी पास न फटकता, उसे समाज में अपनी एक हैसियत बनानी है, बुढ़ापे के लिए कुछ बनाना है। लड़कों के लिए कुछ कर जाना है, जिसमें उन्हें दर-दर ठोकरें न खानी पड़ें। इस निष्ठुर सहानुभूति-शून्य दुनियाँ का उसे पूरा अनुभव है। अपने लड़कों को वह उन कठिन अवस्थाओं में नहीं पड़ने देना चाहता, जो सारी आशाओं उमंगों पर पाला गिरा देती हैं, हिम्मत हौसले को तोड़कर रख देती हैं। उसे वह सारी मंज़िलें जो एक साथ जीवन के आवश्यक अंग हैं, खुद तय करने होंगे और जीवन को व्यापार के सिद्धांत पर चलाये बिना यह इनमें से एक भी मंज़िल पार नहीं कर सकता।

इस सभ्यता का दूसरा सिद्धांत है Business is business

अर्थात् व्यवसाय है, उसमें भावुकता के लिए गुंजाइश नहीं। पुराने जीवन सिद्धान्त में वह लट्ठमार साफ़गोई नहीं है, जो निर्लज्जता कही जा सकती है और जो इस नवीन सिद्धान्त की आत्मा है, जहाँ लेन-देन का सवाल है, रुपये-पैसा का मामला है, वहाँ न दोस्ती का गुज़र है, न मुरौवत का, न इन्सानियत का, 'बिज़नेस' में दोस्ती कैसी ? जहाँ किसी ने इस सिद्धान्त की आड़ ली और आप ला-जवाब हुए। फिर आपकी ज़बान नहीं खुल सकती। एक सज्जन ज़रूरत से लाचार होकर अपने किसी महाजन मित्र के पास जाते हैं और चाहते हैं कि वह उनकी कुछ मदद करें। यह भी आशा रखते हैं कि शायद सूद की दर में वह कुछ रिआयत कर दे; पर जब देखते हैं कि यह महानुभाव मेरे साथ भी वही कारबारी बर्ताव कर रहे हैं तो कुछ रिआयत की प्रार्थना करते हैं, मित्रता और घनिष्ठता के आधार पर आँखों में आँसू भरकर बड़े करुण स्वर में कहते हैं—महाशय, मैं इस समय बड़ा परेशान हूँ, नहीं तो आपको कष्ट न देता, ईश्वर के लिए मेरे हाल पर रहम कीजिये। समझ लीजिये कि एक पुराने दोस्त.....। वहीं बात काटकर आज्ञा के स्वर में फ़रमाया जाता है। लेकिन जनाब, आप 'बिज़नेस इज़ बिज़नेस' इसे भूल जाते हैं। उस दिन कातरप्रार्थी पर मानो बम का गोला गिरा। अब उसके पास कोई तर्क नहीं, कोई दलील नहीं। चुपके से उठकर अपनी राह लेता है या फिर अपने व्यवसाय-सिद्धांत के भक्त मित्र की सारी शर्तें क़बूल कर लेता है।

इस महाजनी सभ्यता ने दुनियाँ में जो रीति-नीतियाँ चलायी हैं उनमें सबसे अधिक घातक और पिपासु यही व्यवसायवाला सिद्धान्त है। मियाँ-बीवी में बिज़नेस, बाप-बेटे में बिज़नेस, गुरु-शिष्य में बिज़नेस! सारे मानवी आध्यात्मिक और सामाजिक नेह-नाते समाप्त। आदमी आदमी के बीच, बस कोई लगाव है, तो बिज़नेस का। लानत है इस 'बिज़नेस' पर! लड़की अगर दुर्भाग्यवश क्वाँरी रह गयी और अपनी जीविका कोई आप न निकाल सकी, तो अपने बाप के घर में ही उसे लौंडी बन जाना पड़ता है। यों लड़के-लड़कियाँ सभी घरों में काम-काज करते ही हैं; पर उन्हें कोई टहलुआ नहीं समझता; पर इस महाजनी सभ्यता में लड़की एक ख़ास उम्र के बाद लौंडी और अपने भाइयों की मज़दूरनी हो जाती है। पूज्य पिताजी भी अपने पितृभक्त बेटे के टहलुए बन जाते हैं और माँ अपने सपूत की टहलुई। स्वजन-सम्बन्धी तो किसी गिनती में नहीं। भाई भी भाई के घर आये तो मेहमान है। अक्सर तो उसे मेहमानी का बिल भी चुकाना पड़ता है। इस सभ्यता की आत्मा है व्यक्तिवाद, आप स्वार्थी बना सब कुछ अपने लिए।

पर यहाँ भी हम किसी को दोषी नहीं ठहरा सकते। वही मान-प्रतिष्ठा, वही भविष्य की चिन्ता, वही अपने बाद बीबी-बच्चों के गुज़र का सवाल, वही नुमाइश और दिखावे की आवश्यकता हर एक की गरदन पर सवार है और वह हिल नहीं सकता। वह इस सभ्यता के नीति-नियमों का पालन करे तो उसका भविष्य अंधकारमय है।

अब तक दुनियाँ के लिए इस सभ्यता की रीति-नीति का अनुसरण करने के सिवा और कोई उपाय न था। उसे झक मारकर उसके आदेशों के सामने सिर झुकाना पड़ता था। महाजन अपने ज़ोम में फूला फिरता था। सारी दुनियाँ उसके चरणों पर नाक रगड़ रही थी। बादशाह उसका बन्दा, वज़ीर उसके गुलाम, संधि-विग्रह की कुंजी उसके हाथ में, दुनियाँ उसकी महत्त्वाकांक्षाओं के सामने सिर झुकाये हुए, हर मुल्क में उसका बोलबाला।

परन्तु अब एक नयी सभ्यता का सूर्य सुदूर पश्चिम से उदय हो रहा है, जिसने इस नाटकीय महाजनवाद या पूँजीवाद की जड़ खोदकर फेंक दी है। जिसका मूल सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक व्यक्ति, जो अपने शरीर या दिमाग़ से मेहनत करके कुछ पैदा कर सकता है, राज्य और समाज का परम सम्मानित सदस्य हो सकता है, और जो केवल दूसरों की मेहनत या बाप-दादों के जोड़े हुए धन पर रईस बना फिरता है, वह पतिततम प्राणी है। उसे राज्य प्रबन्ध में राय देने का हक़ नहीं और वह नागरिकता के अधिकारों का भी पात्र नहीं। महाजन इस नयी लहर से अति उद्विग्न होकर बौखलाया हुआ फिर रहा है और सारी दुनियाँ के महाजनों की शामिल आवाज़ इस नयी सभ्यता को कोस रही है, उसे शाप दे रही है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, धर्म-विश्वास की स्वाधीनता और अपनी अन्तरात्मा के आदेश पर चलने की आज़ादी वह इन सबकी घातक, गला घोंट देनेवाली बतायी जा रही है। उस पर नये-नये लांछन

लगाये जा रहे हैं, नयी-नयी हुरमतें तराशी जा रही हैं। वह काले-से-काले में रंगी जा रही है, कुत्सित-से-कुत्सित रूप में चित्रित की जा रही है। उन सभी साधनों से जो पैसेवालों के लिए सुलभ हैं, काम लेकर उसके विरुद्ध प्रचार किया जा रहा है; पर सचाई है जो इस सारे अन्धकार को चीरकर दुनियाँ में अपनी ज्योति का उजाला फैला रही है।

निस्सन्देह इस नयी सभ्यता ने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के पंजे, नाखून और दाँत तोड़ दिये हैं। उसके राज्य में अब एक पूँजी-पति लाखों मज़दूरों का ख़ून पीकर मोटा नहीं हो सकता। उसे अब यह आज़ादी नहीं कि अपने नफ़े के लिए, साधारण आवश्यकता की वस्तुओं का दाम चढ़ा सके, दूसरे अपने माल की खपत कराने के लिए युद्ध करादे, गोला-बारूद और युद्ध-सामग्री बनाकर दुर्बल राष्ट्रों का दलन कराये। अगर इसकी स्वाधीनता है तो निस्सन्देह नयी सभ्यता में स्वाधीनता नहीं, पर यदि स्वाधीनता का अर्थ यह है कि जन-साधारण ने हमको हवादार मकान, पुष्टिकर भोजन, साफ़-सुथरे गाँव, मनोरंजन और व्यायाम की सुविधाएँ, बिजली के पंखे और रोशनी, सस्ता और सद्यः सुलभ न्याय की प्राप्ति हो, तो इस समाज-व्यवस्था में जो स्वाधीनता और आज़ादी है वह दुनियाँ की किसी सभ्यतम कहानेवाली जाति को भी सुलभ नहीं। धर्म की स्वतन्त्रता का अर्थ अगर पुरोहितों, पादरियों, मुल्लाओं की मुफ़्तख़ोर जमात के दम्भमय उपदेशों और अन्ध-विश्वास-जनित रूढ़ियों का अनुसरण है, तो निस्सन्देह

वहाँ इस स्वतन्त्रता का अभाव है ; पर धर्म-स्वातंत्र्य का अर्थ यदि लोक-सेवा, सहिष्णुता, समाज के लिए व्यक्ति का बलिदान, नेक-नीयती, शरीर और मन की पवित्रता है, तो इस सभ्यता में धर्माचरण की जो स्वाधीनता है उसके दर्शन किसी देश को भी नहीं हो सकते।

जहाँ धन की कमी-बेशी के आधार पर असमानता है वहाँ ईर्ष्या, ज़ोर, ज़बर्दस्ती, बेईमानी, झूठ, मिथ्या, अभियोग-आरोप, वेश्या-वृत्ति, व्यभिचार और सारी दुनियाँ की बुराइयाँ अनिवार्य रूप से मौजूद हैं। जहाँ धन का आधिक्य नहीं, अधिकांश मनुष्य एक ही स्थिति में हैं, वहाँ जलन क्यों हो और ज़ब्र क्यों हो? सतीत्व विक्रय क्यों हो और व्यभिचार क्यों हो? झूठे मुक़द्दमे क्यों चलें और चोरी-डाके की वारदातें क्यों हों? ये सारी बुराइयाँ तो दौलत की देन है; पैसे के प्रसाद हैं, महाजनी सभ्यता ने इनकी सृष्टि की है। वही इनको पालती है और वही यह भी चाहती है कि जो दलित, पीड़ित और विजित हैं, वे इसे ईश्वरीय विधान समझकर अपनी स्थिति पर सन्तुष्ट रहें। उनकी ओर से भी तनिक भी विरोध-विद्रोह का भाव दिखाया गया, तो उनका सिर कुचलने के लिए पुलिस, अदालत है, काला पानी है। आप शराब पीकर उसके नशे से बच नहीं सकते। आग लगाकर चाहो कि लपटें न उठें, असम्भव है। पैसा अपने साथ यह सारी बुराइयाँ लाता है, जिन्होंने दुनियाँ को नरक बना दिया है। इस पैसापूजा को मिटा दीजिये, सारी

बुराइयाँ अपने आप मिट जायँगी, जड़ न खोदकर केवल फुनगी की पत्तियाँ तोड़ना बेकार है। यह नयी सभ्यता धनाढ्यता को हेय और लज्जाजनक तथा घातक विषय समझती है। वहाँ कोई आदमी अमीरी ढंग से रहे तो लोगों की ईर्ष्या का पात्र नहीं होता; बल्कि तुच्छ और हेय समझा जाता है। गहनों से लदकर कोई स्त्री सुन्दरी नहीं बनती। घृणा की पात्र बनती है। साधारण जन-समाज से ऊँचा रहन-सहन रखना वहाँ बेहूदगी समझी जाती है। शराब पीकर वहाँ बहका नहीं जा सकता, अधिक मद्यपान वहाँ दोष समझा जाता है, धार्मिक दृष्टि से नहीं; किन्तु शुद्ध सामाजिक दृष्टि से; क्योंकि शराबख़ोरी से आदमी में धैर्य और कष्ट-सहन, अध्यवसाय और श्रमशीलता का अन्त हो जाता है।

हाँ, इस समाज-व्यवस्था ने व्यक्ति को यह स्वाधीनता नहीं दी है कि वह जन-साधारण को अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की तृप्ति का साधन बनाये और तरह-तरह के बहानों से उनकी मेहनत का फ़ायदा उठाये, या सरकारी पद प्राप्त करके मोटी-मोटी रक़में उड़ायें और मूँछों पर ताव देता फिरे। जहाँ ऊँचे-से-ऊँचे अधिकारी की तनख़्वाह भी उतनी ही है, जितनी एक कुशल कारीगर की। वह गगनचुंबी प्रासादों में नहीं रहता, तीन-चार कमरों में ही उसे गुज़र करना पड़ता है। उसकी श्रीमतीजी रानी साहबा या बेग़म बनी हुई स्कूलों में इनाम बाँटती नहीं फिरतीं; बल्कि अक्सर मेहनत-मज़दूरी या किसी अख़बार के दफ़्तर में काम करती है। सरकारी पद

पाकर वह अपने को लाट साहब नहीं, किन्तु जनता का सेवक समझता है। महाजनी सभ्यता का प्रेमी इस समाज-व्यवस्था को क्यों पसन्द करने लगा जिसमें उसे दूसरों पर हुकूमत जताने के लिए सोने-चाँदी के ढेर लगाने की सुविधाएँ नहीं, पूँजीपति और ज़मींदार तो इस सभ्यता की कल्पना से ही काँप उठते हैं। उनकी जूड़ी का कारण हम समझ सकते हैं। पर जब वह लोग भी उसकी खिल्ली उड़ाने और उस पर फबतियाँ कसने लगते हैं जो अनजान में महाजनी सभ्यता का समर्थन कर रहे हैं, तो हमें उनकी दास-मनोवृत्ति पर हँसी आती है। जिसमें मनुष्यता, आध्यात्मिकता, उच्चता और सौन्दर्य बोध है, वह कभी ऐसी समाज-व्यवस्था की सराहना नहीं कर सकता, जिसकी नींव लोभ, स्वार्थपरता और दुर्बल मनोवृत्ति पर खड़ी हो। ईश्वर ने तुम्हें विद्या और कला की सम्पत्ति दी है तो उसका सर्वश्रेष्ठ उपयोग यही है कि उसे जन-समाज की सेवा में लगाओ, यह नहीं कि उससे जन-समाज पर हुकूमत चलाओ, उसका ख़ून चूसो और उसे उल्लू बनाओ।

धन्य है वह सभ्यता, जो मालदारी और व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त कर रही है और जल्दी या देर में दुनियाँ उसका पदानुसरण अवश्य करेगी। यह सभ्यता अमुक देश की समाज-रचना अथवा धर्म मज़हब से मेल नहीं खाती या उस वातावरण के अनुकूल नहीं है—यह तर्क नितान्त असंगत है। ईसाई मज़हब का पौधा यरूशलम में उगा, और सारी दुनियाँ उसके सौरभ से बस गयी। बौद्ध-धर्म

ने उत्तर भारत में जन्म ग्रहण किया और आधी दुनियाँ ने उसे गुरु-दक्षिणा दी। मानव-स्वभाव अखिल विश्व में एक ही है। छोटी-मोटी बातों में अन्तर हो सकता है; पर मूलस्वरूप की दृष्टि से सम्पूर्ण मानव जाति में कोई भेद नहीं। जो शासन-विधान और समाज-व्यवस्था एक देश के लिए कल्याणकारी है, वह दूसरे देशों के लिए भी हितकर होगी। हाँ, महाजनी सभ्यता और उसके गुरगे अपनी शक्ति भर उसका विरोध करेंगे, उसके बारे में भ्रमजनक बातों का प्रचार करेंगे, जन साधारण को बहकावेंगे, उनकी आँखों में धूल झोंकेंगे; पर जो सत्य है एक-न-एक दिन उसकी विजय होगी और अवश्य होगी।

हिन्दुस्तानी

श्री राजा राधिकारमण प्रसाद सिंहजी

[श्री राजा राधिकारमण प्रसाद सिंहजी सूर्यपुरा (बिहार) के ज़मींदार हैं। मगर भोग-विलास को ही जीवन का साध्य न मानकर आपने साहित्य-सेवा का व्रत लिया है। 'तरंग' आपका पहला सामाजिक उपन्यास है जिसकी भाषा और शैली ने सबको मोहित किया है। इसके बाद 'गांधी-टोपी' नामक कहानियों का संग्रह और 'राम रहीम' नामक वृहत् उपन्यास लिखा है।

आपकी भाषा बहुत ही सुन्दर, शैली ज़ोरदार और फिसलती हुई होती है। पढ़ने में मज़ा आता है। उर्दू और संस्कृत के शब्द-भंडार पर आपका अधिकार है। हिन्दुस्तानी शैली के आप समर्थक और लेखक हैं।]

आज हिन्दी संसार में हिन्दुस्तानी की सनसनी है। यह घटा, जो पहले एक कोने में उठी थी, अब दुंद बाँधकर हमारे साहित्य के

आकाश पर छा चली है। अब वह लरज-गरजकर बरसेगी; फुहार हो या मूसलधार।

हिन्दी और उर्दू का झगड़ा एक हद तक वही परिचित राम और रहीम का झगड़ा है। राम हमारे हैं; रहीम तुम्हारे। रहीम हमारे हैं और राम तुम्हारे। यह हमारी प्रकृति की अपनापनवाली प्रवृत्ति कुछ ऐसी ज़ोरदार है कि हम उस एक को भी अपनी ख़ाम-ख़याली के दायरे में, टुकड़ों में बाँटकर अपने ममत्व का बाज़ार गर्म रखते हैं। वही सिलसिला यहाँ भी है। हिन्दी हमारी, उर्दू तुम्हारी। उर्दू हमारी है, हिन्दी तुम्हारी। एक हिन्दू संस्कृति की दूती है, दूसरी इसलाम के हरम की तूती।

राम और रहीम के दरम्यान ईमान की आन नहीं, जवाब की आन है। अगर क़ुरान संस्कृत में कही गयी होती, तो हम क़ुरान में गीता का पैग़ाम पाते और रहमान को राम पुकारते। अगर इस्लाम का फ़र्मान ईश्वर पर तन-मन से रुझान है तो फिर "मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु"—श्रीकृष्ण के इस अमर वाक्य को क़ुरान का कलाम क्यों न कहें? मगर नहीं, उधर अरबी ज़बान है, इधर संस्कृत का मैदान है। इसलिए एक ओर राम का दौर-दौरा है, दूसरी ओर रहमान का बोलबाला है। इधर राम के नारे बुलन्द होते हैं, उधर इस्लाम के झंडे आस्मान चूमते हैं। दुनियाँ विरोध के नारे को सुनती है, पट्टीदारी की पताका को देखती है और जिसे बुलन्दी पर पाती है उसके सुर में सुर मिलाकर गाती

है। उसे न फ़ुरसत है, न क़ूवत कि तह तक डूबकर तत्व की थाह ले। उसे तमाशे की दिलकशी चाहिए—सुलझाने की दर्दसरी नहीं।

नाम और रूप पर दौड़नेवाली हमारी प्रवृत्ति ने धर्म को रस्म के चकमे में डालकर धर्म के मर्म को लूट लिया। मज़हब को एक अज़ाब बना डाला। वह अध्यात्म की किरण मज़हबी पाबन्दियों के क़ानून में निखरकर चमकने आयी थी, मगर कभी चमककर गुल हो गयी। तअस्सुब की आँधी ने उसे बुझा डाला। मज़हबी महलों में वे फ़ानूस तो लटक रहे हैं; मगर रोशनी का पता नहीं। हम फ़ानूसों की सफ़ाई और लुनाई पर इतराते तो रहे, मगर अंधेरे में भटकते ही रह गये।

आज हिन्दुस्तान में एक मज़हब ही फ़साद का घर नहीं है, ज़बान भी है—चूँकि मज़हब की तह में ज़बान की पख़ है। आदमी से आदमी को अलग करती हुई दुनियाँ में जितनी दीवारें खड़ी हैं, उनमें ज़बान का अन्तराल भी एक दीवार ही है। हम आदमियत के मैदान में धर्म की दीवार खड़ी कर चुप बैठे न रहे, उस धर्म की पोर-पोर में ज़बान की मोर्चेबन्दी कस दी।

इसलिए आज राष्ट्रीयता के युग में मज़हबी मुल्ला आफ़त का परकाला है, बाह्य आचार से भरी धार्मिकता की कट्टर दलबन्दी हमारे जातीय जीवन की जाखिनी है। अलग-अलग ज़बान की—अलग-अलग संस्कृति की—क़िलेबन्दी हमारी सम्मिलित प्रगति की कतरनी है। हमारी वेदना समवेदना को, तह को छू नहीं पाती। हमारे भाव

सद्भाव की मंज़िल तक पहुँच नहीं पाते। हम अपनी भावनाओं के भवर में आबद्ध रहकर अपनी संभावनाओं के भुवन को भूल जाते हैं।

आज जगत की छाती पर राष्ट्रीयता का दानव सवार है। वह एक ओर से दैव है, दूसरी ओर से दानव है। यह मानव प्रगति की ऊँची सीढ़ी ज़रूर है; मगर फिर भी यह प्रगति ही है, परिणति नहीं। यह देश के तमाम सत्वों को एक सूत्र में बांधकर पुष्ट तो करती है, पर विश्व-मानव की मंजिल तक पहुँच नहीं पाती। राष्ट्रीयता की विभूति शायद मानवता की अनुभूति नहीं पनपाती।

हम तो अब कमज़ोर हैं। टुकड़ों में बँटकर टुकड़ों के मुहताज हैं। हमारी न शान है, न हमारी जबान का मान। हमारे पर तो बंधे हैं फिर परबाज़ों के पहलू में पर मारने का पराक्रम कहाँ है? पहले हम एक तो हों, अपना घर तो बाँधें—उस घर पर छप्पर तो हो, फिर पड़ोस से हाथ मिलाने का ख़्वाब देखें। अभी हम राष्ट्रीयता के तबक़े तक तो पहुँच न पाये, वही दिल्ली का लड्डू हो रही है।

इसलिए आज इस देश के व्रती राष्ट्रीयता के पथ से रोड़े चुनने में ख़म ठोककर भिड़े हैं। यहाँ एक-दो रोड़े नहीं, सैकड़ों हैं। जात-पांत, ज़बान, रिवाज़, धर्म, कर्म वग़ैरह-वग़ैरह। इतने रोड़े शायद और कहीं न थे, न होंगे। फिर हमारी प्रगति की गति इतनी धीमी क्यों न हो? पग-पग पर फूंक-फूंककर बढ़ना है, ठोकरें खाना है, गिरना है और दामन झाड़कर उठना है। दुनियाँ हमारी ठोकरों पर उंगली तो उठाती है, पर उंगली का सहारा नहीं देती। हमारी दर्दसरी उसकी दिलचस्पी की

चीज़ जो हो, कुछ हमदर्दी की चीज़ नहीं। और, बात भी है। जो बाहर से सहारा ढूँढ़ता है, वह खुद भीतर से खोखला होता है, फिर दूसरे को सहारा देने की क्या पड़ी है? जिसके डाढ़ों में लड्डू लग चुका उसकी आँखों में पानी कहाँ से आये? हमारी फूट जिसकी रोटी है, वह हमारी चोटी क्यों छोड़ दे? आखिर वह आदमी है, कुछ देवता नहीं।

हमें तो अपने बल पर एक होना है—एक दिल, एक मत, एक ज़बान, एक आचार, एक विचार। पैक्टों के पैबन्द के टांके टूटते देर नहीं लगती। यहाँ तो राष्ट्रीयता के सूत में बाँधकर सूत में सूत मिला देना है। इसी बंधन में हमारी मुक्ति है। इसी कुर्बानी में हमारी जवानी है।

अब आप समझे, क्यों आज हिन्दी हिन्दुस्तानी के साँचे में ढाली जा रही है?—चूँकि ज़बान का मसला राष्ट्रपथ का एक रोड़ा है। राष्ट्र के तले तो ज़बान की लट भी दबी है। अगर ज़बान से देश का रुतबा बड़ा है, तो देश की माँग तमाम स्वत्वों की माँग पर बाला है। यह बात और है कि देश से भी मनुष्य बड़ा है; मगर यह प्रश्न तो हमारे सामने नहीं, क्योंकि विश्व की बिरादरी के दरबार में, आदर की या बराबरी की जगह तो दूर रहे—हुद्दावरदारी भी हमें नसीब नहीं। अभी तो जातीयता की कसौटी पर हम खरे उतरे नहीं। इसी खराद पर हमारी ज़बान चढ़ने जा रही है। और, ज़बान ही नहीं, हमारा खान-पान, हमारा विधान, हमारा आचार-विचार, रीति-रिवाज़—सब कुछ। जिस जाति या जिस

वर्ग की जो कुछ निजी सम्पत्ति है वह इस तीव्र विचारधारा की बाढ़ से बच नहीं सकती। जिस बुनीयादी मित्ति पर आज तक उसकी प्रगति रही, जिस संस्कृति के साये में हिन्दी पलकर जवान हुई वही मित्ति आज ज़माने के ज़लज़ले से तिलमिला रही है।

हमारी संस्कृति का भी एक नवीन संस्करण अनिवार्य है। आखिर हमारी संस्कृति कुछ ब्रह्म की तरह त्रिकाल में टिकनेवाली एक-सी सत्ता नहीं है। सो भी हवा का रंग देखकर अपना रंग बदलना ही पड़ता है। रह गया साहित्य। उसे भी तो राष्ट्र की बाधाओं के दूर करने में लगे हाथों, हाथ बँटाना ही पड़ेगा। वह हाथ बाँधे अलग खड़ा तो रह नहीं सकता, आज तक न रहा है, न रहेगा। मैं यह नहीं कहता कि साहित्य राष्ट्र के सरोद का तबलची है। मैं तो यह कहता हूँ कि साहित्य को भी एक हद तक राष्ट्र की नाज़बरदारी लाज़िमी है और राष्ट्र को भी एक हद तक साहित्य की दिलजोई ज़रूरी है। साहित्य की संजीवनी राष्ट्र की रूह में केवल प्रेरणा ही नहीं भरती, उत्तेजना भी भरती है। जिस काव्य की क्यारी में आज तक रिझावन बाजा बजता रहा, वहाँ अब—'बाजन लगे जुझावन बाजा'! आँसुओं के टप-टप नीर और उसाँसों के हौले-हौले समीर की जगह अब क्रान्ति का तूफ़ानी आँधी-पानी झमकना चाहता है।

आज की योजना तो महज़ नश्तर घुसेड़कर मवाद निकाल साफ़ कर देती है, ताकि लहू का संचार उस गलित अंश को तरो-

ताज़ा कर दे। उसका प्रयास अंग को जड़ से काटकर अलग कर देना नहीं है। मगर समाजवाद के हाथ में नश्तर नहीं कुठार है। वह हमारे तमाम संस्कार—तमाम सिद्धांत के शिलाधार को तोड़-ताड़कर एक नयी ज़मीन, एक नया आसमान तैयार करने का दावा रखता है। हमारे लिए हितकर सुधार है या कुठार—नश्तर है या हाविटजर—इस प्रश्न का समाधान तो भविष्य के घूँघट में रूपोश है।

हमें वह दिन भी नज़र आ रहा है जब राम और रहीम भी उठती हुई क्रान्ति की लौ में जल-भुनकर ख़ाक ही हो जायँगे या गला-तपाकर ऐसे दुरुस्त कर दिये जायँगे कि वे राष्ट्र के पथ में रोड़ा न रहकर प्रेरणा बन सकें।

आख़िर दुनियाँ के तमाम राष्ट्रों ने जब अपना घर संभाला, तो घर के तमाम स्वत्वों पर जीवन के तमाम आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक साहित्यक साधनों पर अपना सिक्का जमा दिया। इस मोर्चेबन्दी के तले कितनी रूढ़ियाँ, कितनी दलबन्दियाँ, कितनी मूल नीति, कितनी रीति और प्रतीति दबकर चकानचूर हो गयी—गिनती नयी। रूस ने ईश्वर को दुर्बल मस्तिष्क माल खौलिया करार देकर उसके वजूद का तख़्ता उलट दिया। अल्लाह की चर्चा कूफ़ की चर्चा हो गयी। क्यों? चूँकि उसके संगठन की स्कीम में ईश्वर एक अन्तराय था। कमाल ने टर्की में कमाल कर दिखाया, आपसे पर्दा नहीं। अगर वह मज़हब को पामाल न करता, तुर्की ज़बान, तुर्की विधि-विधान, तुर्की आचार-विचार पर तलवार नहीं उठाता—तो आज टर्की की नयी

शक्ति का संचार यूरोप की छाती पर सवार नहीं होता। जापान का उत्थान क्यों है? वहाँ एक ही परिवार में बौद्ध भी हैं, क्रिस्तान भी; और फिर किसी पर यह विभेद प्रकट तक नहीं, चूँकि ज़बान एक है—रहन-सहन, खान-पान एक है।

आख़िर इसी देश की मिट्टी से हिन्दू भी पनपे हैं, मुसलमान भी। मरना-जीना एक साथ है। उनके राम-रहीम एक होकर भी उनकी निगाह में दो रहे—यही काफ़ी फ़साद का घर है। उस पर ज़बान भी दो हो, लिबास भी दो हो, आचार भी दो हो, विचार भी दो हो—यह तो अजीब गोरखधंधा है! अगर इस देश के बाशिन्दा अल्लाह के बन्दा रह गये, तो गये! अगर उनके जीवन के तमाम पहलुओं में अलग-अलग गुटबंदियाँ टिकी रहीं, तो राष्ट्र का संगठन हो चुका—देश में नवजीवन आ चुका! अगर राष्ट्र ही नहीं पनपा, तो हमारा साहित्य ख़ाक पनपेगा? उसमें वह ओज होगा? वह तेज होगा? वह मौज होगी? वह सजीवता होगी? वह जातीयता होगी?

अब आप समझे, राष्ट्र का तक़ाज़ा क्या है? हिन्दी के सामने मसला क्या है? बन्देमातरम् पर कतरनी उठानेवाले हिन्दी को ख़राद पर चढ़ाकर ही तो दम लेंगे। उनकी नज़र देश पर ही है—आपके हृदय के आवेश पर नहीं। उन्हें राष्ट्र की नाव को खेकर पार करना है। वे जानते हैं कि विभेद की कमज़ोरियाँ नाव के पेंद में सूराख हो चली हैं। तअस्सुब का पानी भरा, तो नाव डूबी। उन्हें नाव पर के सवार को देखना है—उनके

माल को नहीं। उन्हें जान बचाना है, ज़बान बचाना नहीं। उस ज़बान में सोने के वर्क ही क्यों न लिपटे हों मगर जब नाव डूबने पर आती है तो सोने की पेटियाँ भी जल में फेंक दी जाती हैं ताकि नाव हल्की होकर तैरती रहे। इन्हें बेड़ा पार करना है—किसी दल की दिलजोई नहीं।

मगर सचमुच क्या हिन्दी की कुर्बानी होने जा रही है? या वह ख़राद पर चढ़कर चमकने चली है? उसके सर पर तो राष्ट्र-भाषा का सेहरा बंध रहा है, कुछ कफ़स बंधने नहीं जाता। और अगर देश के लिए कफ़न भी बाँधना पड़ा तो वह कफ़न शहीद का अमर जीवन है।

हमारी हिन्दी राष्ट्रभाषा के गौरव पद को रौनक़ करेगी। मगर हाँ, जहाँ इस पद की बुलन्दी है, वहाँ इस पद की ज़िम्मेवारी भी है। जहाँ गौरव है वहाँ गहरा दायित्व भी है। आज तक वह एक सम्प्रदाय की निधि थी, अब वह सारे समुदाय की निधि होगी। अब हिन्दी किसी प्रान्त की बिन्दी नहीं, भारत माता के ललाट की बिन्दी होगी। आज वह हमारी ही थी, अब वह तुम्हारी भी होगी। अब तक वह साहित्यों के ऊँचे-ऊँचे महलों की सुकुमारी थी, अब वह जनता की गोद की दुलारी भी होगी। जहाँ जनता है, वहीं जीवन है; और जहाँ जीवन है, वहाँ जशन भी है, जलन भी। अब वह झोंपड़ियों में ठुमकेगी, चिथड़ों में लिपटेगी, खेतों में भिरकेगी, देहातों में फुदकेगी। वह काश्मीर की केसर-क्यारी से कावेरी के तट तक प्रान्तीय और देहाती बहनों से घुल-मिलकर

खेलती चलेगी। अब वह क़ीमती उत्तरीय को उतारकर खद्दर की चादर भी बाँधेगी। सीधे-सादे बान में हर तबके, हर चकले की दिलजोई करेगी। महफ़िलों की रंगीनी भी रही; खद्दर की सादगी भी आयी। जब तक वह संस्कृत के आंचल के तले पलती रही, वह दूध-पीती बच्ची थी। अब वह जवान होकर भवन से भुवन में आ रही है। फिर ज़माने की हवा का रंग देखकर उसे बरतना ही होगा। वह सत्यनारायण की कथा की पंजीरी तो पाती रही, उसे अब मौलूदशरीफ़ की जलेबियाँ भी चखनी होंगी। वह मालकोश के मंडल में तो पलती रही, उसे अब गिरजों के आर्गन पर, कव्वाली की धुन पर भी घुंघरू बाँधना होगा।

हम जानते हैं, हम अभी उसे इस हद तक खुल-खेलने देने के लिए तैयार नहीं हैं। 'हमारी लली इस जवानी की अलमस्ती में न जाने कहाँ भटक पड़ेगी!' हमें डर है, वह सब की ज़बान पर चढ़कर अपनी निजी आन भूल जायगी। वह पुष्कर से निकलकर सागर में पड़ी तो डूब जायगी—

'मानस सलिल सुधा प्रतिपाली।
जिअई कि लवन पयोधि मराली॥'

मगर शायद हम भूलते हैं। हमने जिस दिन व्रज की क्यारी से निकलकर खड़ी बोली के कूचे में क़दम रखा, उसी दिन विधाता ने हिन्दी के भाग्य-पटल पर नयी लकीरें खींच दीं। जब हम इस कूचे में आ गये, तो फिर भी उर्दू के जिस्म की बुलन्दी और

पस्ती, उसकी रफ़्तार की शोखी और मस्ती हमारे दिल के पहलू में गुल कतरने लगी। वह ईरान की आनबान दिलकश तो ज़रूर निकली, मगर शायद हमारे दिल को न भर सकी। हम उस मेल-जोल से अपने को महफ़ूज नहीं पाते। हमारी मज्जागत कुलीनता चट म्यान से तलवार खींच लेती है। 'हम उर्दू में नमक-मिर्च तो ज़रूर पाते हैं, पर तासीर तामसिक है, सात्विक नहीं।' हम हिन्दी के वायु-मंडल में मुग़लानी ज़बान के छींटे देखकर बरस पड़ते हैं—'भला, इस सात्विक रस के परिवेषण में प्याज की गंध कहाँ से आयी! यहाँ भी इस्लाम की दाल गलेगी? नहीं-नहीं, इसे दाल की मक्खी की तरह निकाल फेंको।

मैं पूछता हूँ—कहाँ रही वह कुलीनता, वह सात्विकता, जब शिखा-सूत्रधारी-स्वयंपाकी के लाड़ले आज कोट-बूट डाटे विलायती होटलों की टेबुल पर पोच और पॉरिज के प्लेट के प्लेट साफ़ कर डालते हैं! आज आचार के आगार हिन्दुओं के घर-घर चाय और चुरुट का संचार चल गया। अब रोटी और कढ़ी के साथ-साथ पुलाव और फिर्नी भी चाहिए।

बस, उर्दू की गंध से आपत्ति हमारी कुलीनता की आसक्ति है, हमारी अपनापनवाली प्रवृत्ति है, हमारी कट्टर मनोवृत्ति है। वर्ना हिन्दी और उर्दू दो हैं?—राम और रहीम दो हैं? दोनों के बीच में लिपि की दीवार न रहती, अलग नाम की तलवार न रहती, काबा और काशी की तकरार न रहती, तो हिन्दी और उर्दू तत्त्वतः दो

समझी जातीं? उनकी नस्ल ही एक नहीं—शक्ल भी एक, आकृति भी एक, प्रकृति भी एक है। फिर उनकी परिणति—उनकी प्रगति भी एक क्यों न हो? एक आर्य संस्कृति की भित्ति पर चढ़कर फैली है, दूसरी शाही रंगीनियों में पलकर सयानी हुई है। एक भारत की भारती की आरती उतारती है, दूसरी ईरान का आनबान की हामी भरती है। यह भिन्न परिस्थिति न रहती, तो वे दो रहतीं?

आज हिन्दी में संस्कृत की बौछार न हो, उर्दू में अरबी फ़ारसी की भरमार न हो, तो हिन्दी को उर्दू से अलग करार देना दुश्वार होगा। जहाँ वे सीधी-सादी बोलचाल की ज़बान में हैं, वहाँ एक दूसरे से अभिन्न हैं—

"मैं ढूँढता तुझे था, जब कुंज और वन में।
तू खोजता मुझे था, तब दीन के वतन में॥"

—क्या यह हिन्दी है? तो फिर उर्दू क्या है? और—

"अंगूर में धरी हैं पानी की चार बूँदें।
जब से वो खिंच गयी हैं, तलवार हो गयी हैं॥

—क्या यह उर्दू है? तो फिर हिन्दी क्या है?

ज़बान की सादगी खद्दर की बुलन्दी रखती है! वह सीधे हृदय से उठती है और टूटकर जिगर के पार होती है। मुहाविरों को चुस्ती शब्दों की पस्ती में भी एक अजीब मस्ती बिखेर देती है। न कला की कमी होती है, न रस की क्षति। यों तो साहित्य की

विभूति सादगी में भी है, रंगीनी में भी है। एक चेहरे की सहज प्रफुल्लता है, दूसरी हावभाव की भंगिमा। हमें गंगाजल की प्रसन्नता भी चाहिए और मौक़े-ब-मौक़े मदिरा की मादकता भी चाहिए।

प्रतिभा की किरण जिन शब्दों के जाल पर पड़ेगी, उसी को रोशन कर देगी। लेखक जब दिल के लहू से लिखता है, कलेजा निकालकर काग़ज़ पर रख देता है, तो वह काग़ज़ का टुकड़ा रूह की फूँक पर बोल उठता है। हम अपनी क़लम के मुँह में जब दिमाग़ का अर्क निचोड़कर भरते हैं, तो हमारी क़लम की नोक आसमान के सितारे तोड़ती है। यह कोई ज़रूरी नहीं कि साहित्य की गोटी तभी लाल होगी, जब हिन्दी की बिसात पर संस्कृत की चित्ती चित पड़ेगी। साहित्य की बानगी तो आपकी कला की बारीकी पर निर्भर है, संस्कृत या फ़ारसी की चाशनी पर नहीं, हिन्दी की सादी ज़मीन पर विलायती बेल की किनारी भी खुल सकती है। हमारे साहित्य के चमन में ईरान के बेल-बूटे भी खप सकते हैं—खिल सकते हैं। हाँ, वे गुल-बूटे इस करीने से सजे हों कि चमन की चारुता में कहीं से आँच न आ सके। प्रेमचन्द ने उर्दू की किरण पिरो-पिरोकर हिन्दी के पैरहन में चार चाँद लगा दिये।

आपको हिन्दी को धनी करना है, तो उसके भांडार में संस्कृत के चन्द्रकान्त और कौस्तुभ भी हों, फ़ारस का याक़ूत और जमुर्रद भी हो। आपके साहित्य की अमराई में कोयल की कूक भी हो, बुलबुल की चहक भी; मालती-निकुंजों की क्यारी भी हो,

गुलेलाला की किनारी भी ; केसर की सुगन्धि भी हो, पैंसी की रंगीनी भी ; मलय-मर्मर की माधुरी भी हो, नसीमेबहार की शोख़ी भी। आबेज़मज़म के छींटों से गंगा के प्रवाह में नया संगम होगा। और, वही प्रयाग राष्ट्र के साहित्य का तीर्थ होगा।

मैं फिर भी कहता हूँ—आपके देश की मिट्टी पर जो विलायती फल और फूल उग सकें—उगकर रंग ला सकें, उन्हें उगने दीजिये। आपकी ज़बान की भित्ति पर आपके साहित्य की फुलवारी में जो विदेशी गुल-बूटे पनप सकें—पनप कर खिल सकें उन्हें खिलने दीजिये। इस मेल-जोल से, नये-नये क़लम बाँधने से, अगर नये-नये मीठे पौधे लग सकें तो लगने दीजिये। जब मिट्टी हमारे देश की है, हवा हमारे देश की है, पानी हमारे देश का है, तो फिर आशंका कैसी?

हमारी एक आपत्ति और है 'उर्दूवाले तो इस यज्ञ में हाथ बटाने पर शायद तैयार नहीं। उनके कानों पर जूँ तक नहीं रेंगती। वे अपनी संस्कृति की पूँजी से एक रत्ती भी राष्ट्रसंगठन के चन्दे में देते नज़र नहीं आते। फिर हमारी ही संस्कृति की विभूति दाल की मक्खी बने, यह तो कोई न्याय नहीं!'

हिन्दी जब राष्ट्र के सिंहासन पर आरूढ़ होती है, तो उसे समदृष्टि रखनी ही पड़ेगी। वह सबसे साम्यभाव नहीं रखती, तो उसपर सबकी आस्था क्योंकर होगी? वह एक की रहती है, तो वह प्रत्येक की नहीं रहती। वह राम की रहती है, तो वह इस्लाम की नहीं रहती। वह

राष्ट्रीय झंडे को हाथ में लेकर महावीरी झंडे की कप्तानी नहीं कर सकती। जब तक ममता नहीं जाती, तब तक समता नहीं आती।

आज हिन्दी के साथ हिन्दुत्व की बू लिपटी हुई है; उर्दू के साथ इस्लाम की रूह लिपटी हुई है। फिर हो गया? हम हिन्दी का नाम तर्क करने को तैयार नहीं, वे उर्दू का नाम तर्क करने को तैयार नहीं। इधर नाम के साथ राम है, उधर नाम के साथ इस्लाम है। एक ही ज़बान संस्कृत की चोली-चुंदरी, हिन्दुत्व की बिन्दी-बन्दनी में हिन्दी बनी है, फिर ईरान की सुथनी-ओढ़नी, इस्लाम की तरकी-बाली में सजकर उर्दू बनी है। हिन्दी के बन्दा उसे बग़ैर चुंदरी-बिन्दी के देख नहीं पाते। उर्दू के बन्दा उसे बग़ैर ओढ़नी-बाली के देख नहीं पाते। वह अगर दोनों साज को उतार देती है, तो किसी एक की अपनी तो नहीं रहती, मगर बग़ैर चामचुम के नंगी हो जाती है। इसीलिए राष्ट्र की योजना है कि इधर से चुंदरी, उधर से चदरा—इदर से कंगनी, उधर से झुमका लेकर एक नयी वज़ेदारी तैयार हो, जो राम और इस्लाम दोनों के लिए बराबर हो और मज़े की चामचुम भी रहे।

इसी वज़ेदारी का नाम हिन्दुस्तानी है। यह नया नाम देना पड़ता है, यह नयो रूप-रेखा देनी पड़ती है—चूँकि पुराने नाम और रूप के साथ झगड़ा खड़ा है।

दुनियाँ तो नाम और रूप पर मरती है। उसे तो नाम चाहिए, रूप चाहिए। यही नाम और रूप तो तमाम फ़साद का जाम है। हम ईश्वर के नाम को भी अरबी ज़बान में नहीं सुन पाते।

हमें ज़बान पहले है, भगवान पीछे। हमारा पड़ोसी अल्लाह का नाम भी संस्कृत ज़बान में नहीं सुन पाता। उसे कलाम पहले है, इस्लाम पीछे। शायद जो नाम का भूखा है, वह राम की परवाह नहीं रखता और जो राम का भूखा है, वह नाम की परवाह नहीं रखता। इस नाम और रूप के जो परे है, वह तो एक है, और सबका एक है। वहाँ तो विभिन्नता नहीं, एकता है। मगर, इस विभिन्नता की तह में एकता की जो सत्ता है, उस बुनियादी तत्त्व तक तो हमारी प्रवृत्ति की पैठ नहीं, मगर बग़ैर उस मंज़िल तक गये तो यह मसला हल नहीं होता। वहीं जाकर राम और रहीम का, हिन्दी और उर्दू का विरोध मिटता है। वही तथ्य है, वही सत्य है। उसी को अपनाने में सबका कल्याण है।

दस हज़ार

श्री उदयशंकर भट्ट

श्री उदयशंकरजी भट्ट यू. पी. के रहनेवाले हैं। आजकल आप लाहौर में हिन्दी अध्यापन का कार्य कर रहे हैं।

आप कवि और नाटककार हैं। 'तक्षशिला' नामक सुन्दर काव्य, विश्वामित्र वग़ैरह गीति-नाट्य तथा अन्य कुछ नाटक आपने लिखे हैं। आप एकांकी नाटक भी लिखते हैं। आपका एक सुन्दर एकांकी 'एक ही क़ब्र में'—दक्षिण भारत के हिन्दी प्रेमी पढ़ चुके हैं। यह दूसरा है।

आपकी रचना भाव-प्रधान होती है। भाषा सरल हिन्दुस्तानी होती है।

पात्र

विसाखाराम	:	सीमा प्रान्त का एक सेठ
सुंदरलाल	:	विसाखाराम का लड़का
राजो	:	विसाखाराम की लड़की
राजो की माँ	:	सेठ की पत्नी
मुनीम		

समय—शाम के पाँच बजे

[सीमा प्रान्त के एक नगर में एक दुमंज़िला मकान। ऊपर की मंज़िल में एक बड़ा-सा कमरा, जिसमें दो दरवाज़े हैं। एक सीढ़ी के पास और दूसरा मकान के भीतरी भाग में जाता है। गली की तरफ़ दो खिड़कियाँ हैं। भीतर कमरे में एक बड़ी खाट है, जिस पर मैला-सा बिस्तर बिछा है। पूर्व की तरफ़ कोने में एक चौकी है, उसके सामने आले में ठाकुरजी का एक सिंहासन है। उसमें कुछ पीतल की मूर्तियाँ हैं। उन पर गेंदे के फूल की माला चढ़ी है। आले की कील पर एक रुद्राक्ष की माला है। हाथ की लिखी हुई छोटी-सी दो किताबें हैं। कमरे में कुछ तसवीरें हैं—एक रामचन्द्र, सीता, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न की, जिसमें राम के राज्याभिषेक का दृश्य है; हनुमान माला तोड़ रहे हैं। दूसरी एक तसवीर काली की है। कमरे में एक मोढ़ा रखा है और एक टूटी हुई कुर्सी जिसका बेंत टूटा हुआ है। एक छोटी-सी मेज़ एक कोने में रखी है। उस पर एक लोटा और उसके ऊपर एक गिलास रखा है। दो खूँटियाँ गड़ी हुई हैं, उनमें एक पर एक पगड़ी और दूसरी पर एक दुपट्टा और एक मैला-सा कोट है। खाट पर लाला विसाखाराम बेचैनी से लेटे हुए हैं। उनकी आँखों में बेचैनी है। चेहरा पिचका हुआ, रंग गोरा। बाल बिखरे हुए हैं। मालूम होता है बड़ी चिन्ता में हैं। हाथ में चिट्ठी है, जिसे बार-बार उठाकर पढ़ते हैं और फिर सिरहाने रख देते हैं। फिर उठा लेते हैं, पढ़ते हैं, और फिर रख देते

हैं। उठकर बैठ जाते हैं और छत की कड़ियों की ओर ताकते हैं और धम से फिर खाट पर लेट जाते हैं।]

विसाखा—हाय, क्या मालूम था कि यह दिन भी देखना पड़ेगा। हे भगवान, उद्धार करो! बड़ी भारी आपत्ति आ पड़ी है। कोई उपाय नहीं सूझ रहा है। (आँख बन्दकर ठाकुर जी को हाथ जोड़ने लगते हैं, फिर आँख खोलकर पत्र हाथ में लेकर पढ़ने लगते हैं) क्या करूँ? राजो, ओ राजो!

[भीतर के दरवाज़े से १४ साल की एक लड़की दौड़ती हुई आती है।]

राजो—हाँ—चाचाजी आयी!

विसाखा—अरी क्या अभी मुनीमजी नहीं आये! मैं तो मरा जा रहा हूँ। बड़ी मुसीबत है।

राजो—भाईजी कब आवेंगे भला? (एकदम पास आकर) बुला लो न भाई को। कुछ रुपयों की ही तो बात है। हाय, (आँखों में आँसू भरकर) हे भगवान्, बड़े नामुराद हैं ये लोग! चाचाजी, भेज दो रुपया, क्या सोचते हैं आप?

विसाखा०—क्या सोचता हूँ बेटी! अपनी किस्मत को रो रहा हूँ। रुपया भी कहाँ है। अभी अनाज भी तो ख़रीदना है। कल मुहम्मद बख़्श आने रुपये का सूद देकर दो हज़ार माँगने आया था, उसको भी तो देना ही है। दस हज़ार के सरकारी बॉण्ड ख़रीदने हैं, ऐसा मौक़ा कब मिलेगा। इतना सूद क्या छोड़ा जा सकता है बेटी! (चिट्ठी देखकर) ओः! दस हज़ार देने पड़ेंगे! (एकदम खाट पर धड़ाम से लेट जाता है।)

राजो—(दौड़कर) चाचाजी, क्या हुआ तुम्हें! भाभी, ओ भाभी! देख तो चाचाजी को क्या हो गया है?

[राजो की माँ 'अरी आयी' कहती हुई आती है]

राजो की माँ—कह तो दिया, परेशान होने की क्या ज़रूरत है। दे दो, दस हज़ार। रुपये तो फिर भी मिलते रहेंगे। लड़का तो फिर....हा भगवान्, क्या कह रही हूँ। हे रामजी! (हाथ जोड़कर आले में रखे ठाकुर जी के सिंहासन की तरफ़ देखने लगती है) दया करो भगवान्!

विसाखा०—मुनीमजी नहीं आये? (आँख बन्द कर लेता है।)

राजो—आते ही होंगे। तुम्हारा कैसा जी है?

राजो की माँ—कह तो रही हूँ, फिकर क्यों कर रहे हो? हे ईश्वर, मेरे लड़के को लौटा दो। मेरा सब कुछ ले लो। मेरे प्यारे बच्चे को मुझे दे दो भगवान् (रोने लगती है।)

राजो—(माँ के गले से लिपटकर) रोती क्यों हो भाभी! चाचा से कहकर भाई को बुला लो न!

राजो की माँ—(आँसू पोंछती हुई) कैसे बुलाऊँ बेटी, तेरे चाचा को तो रुपये की पड़ी है। ईश्वर ने एक ही लड़का दिया .....हा भगवान्!

विसाखा—(आँखें खोलकर) राजो, मुनीमजी नहीं आये बेटी!

राजो—अभी तो नहीं आये।

विसाखा०—न मालूम मुनीम ने शक्कर का सौदा किया या

नहीं। इस वक़्त तो शक्कर ख़रीदना ज़रूरी है। फिर महंगी हो जायगी। कैसी मुसीबत है। न जाने इबराहीम से रुपये का तक़ाज़ा किया या नहीं। आज चार साल हो रहे हैं, अभी तक सूद भी नहीं दिया। मुक़दमा लड़ना पड़ेगा, तब कहीं जाकर वह बेईमान रुपया देगा। (पत्र हाथ में लेकर) पर इसको क्या करूँ?

['राजो, राजो' नाम लेकर मुनीम आवाज़ लगाता हुआ ज़ीने में खट् खट् चढ़ता आता है।]

विसाखा०—लो, मुनीमजी आ गये। (एकदम उठकर बैठ जाता है।) आओ मुनीमजी, आज बड़ी देर लगायी।

[राजो और उसकी माँ दूसरे दरवाज़े से घर में चली जाती हैं।]

मुनीम—जै रामजी की सेठजी! देर हो गयी। दिन-भर का हिसाब-किताब करना था। तेरह आने के हिसाब से शक्कर के सौ बोरे ख़रीद लिये हैं। मुहम्मद बख़्श का आदमी आया था। मैंने कह दिया, सेठजी के आने पर फ़ैसला होगा। सुना, इबराहीम फ़रार हो गया है। रोकड़ मिलाते इतनी देर हो गयी है। हाँ, पठानों का कोई ख़त आया क्या?

विसाखा०—खांड तो बारह आने थी न! फिर तेरह आने क्यों ख़रीदी? इब्राहीम भाग गया क्या? यह तो बड़ी बुरी ख़बर है, मुनीमजी, चार हज़ार नक़द हैं! कैसे छोड़े जा सकते हैं। चौधरी से नहीं कहलवाया? वह तो ज़ामिन है न! सरकारी बॉण्ड की कोई चिट्ठी आयी? रुपये तैयार रखना। बॉण्ड तो ख़रीदने होंगे।

मुनीम—पठानों की तरफ़ से कोई चिट्ठी आयी सेठजी?

विसाखा०—रोकड़ में कितना बाक़ी है? चौधरी के पास अभी आदमी भेजो और तक़ाज़ा करो। (खाट पर लेटकर) सब तरफ़ मुसीबत है। रुपया लेकर देने का कोई नाम नहीं लेता। (आँखें बन्द करके लेट जाता है।) हा भगवान्! हे ईश्वर! कैसा बुरा समय है!

मुनीम—पठानों ने कुछ नहीं लिखा सेठजी? सुन्दरलाल का ख़याल करना ही चाहिए। न मालूम बेचारे को कैसी तकलीफ़ दे रहे होंगे। (सेठ की ओर देखता है।)

विसाखा०—लो यह पढ़ो। कैसा दुष्ट है लड़का! ज़रा भी न लड़ा न झगड़ा। डोली में नयी बहू की तरह उनके साथ चला गया मेरी छाती पर मूँग दलने! कहाँ से लाऊँ दस हज़ार? दस हज़ार! (चिट्ठी मुनीम के हाथ में देकर) लो पढ़ो, सब बरबाद कर दिया। भला बाहर निकला ही क्यों?

मुनीम—सेठजी, सुन्दरलाल का कोई क़सूर नहीं है। रुपये वसूली को उसे आपने ही तो भेजा था।

[ख़त हाथ में लेकर पढ़ने लगता है।]

विसाखा०—बरबाद हो गया मैं तो मुनीमजी! हाँ, ज़रा ज़ोर से पढ़ो।

मुनीम—(चौंककर) है! यह तो सुन्दरलाल की ही लिखावट है! लिखता है—'पिताजी, अगर मेरी ज़िन्दगी चाहते हो तो किसी आदमी के हाथ ख़बर फाटक के बाहर आज ठीक शाम के आठ

बजे दस हज़ार रुपया पहुँचा दो। पुलिस को, या कोई और आदमी को लेकर आये तो ख़ान कहता है, मुझे मरा ही समझो। इन लोगों ने मुझे बड़ी तकलीफ़ दी है। शायद नरक की कोई भी यातना इससे अधिक नहीं हो सकती। मुझे विश्वास है, आप मेरी रक्षा करेंगे।

आपका पुत्र,

सुन्दरलाल'

नीचे ख़ान ने ख़ुद पश्तो में लिखा है—

'अम तुमको इत्तला देता है, तुम आज बुधवार को शाम के आठ बजे दस हज़ार रुपया ख़ैबर फाटक के बाहर पहुँचा दे, नई तो तुम्हरा लड़का को मार डालेगा। **अमीरअली ख़ां।**'

[मुनीम ख़त रखकर विसाखाराम की ओर देखने लगता है।]

मुनीम—सेठजी, दस हज़ार की क्या बात है। आज ही तो बुधवार है। अगर कहें तो मुहम्मद बख़्श को न देकर दस हज़ार का इन्तज़ाम कर लूँ। रुपया तो है ही।

विसाखा०—(उठकर) आने रुपये का सूद है मुनीमजी! दस हज़ार यों ही जायँगे? हे भगवान्! कंगाल कर दिया।

[राजो और उसकी माँ एकदम कमरे में आ जाती हैं।]

राजो की माँ—यों ही जायंगे, सुना तुमने मुनीमजी! इनकी अक़्ल पर तो पत्थर पड़ गये हैं। कुछ नहीं सोचते। बस, रुपया, रुपया! मेरा लड़का ला दो मुनीमजी! हाय मेरा सुन्दर! हाय मेरा बच्चा!

[घूँघट निकाले ज़मीन पर बैठ जाती है। राजो दौड़कर पिता से लिपट जाती है और निहोरे के ढंग से उसे देखने लगती है।]

विसाखा०—भला मुनीमजी, मैं क्या यह कहता हूँ कि सुन्दर न आये? मैं तो खुद चाहता हूँ कि लड़का किसी तरह आ जावे। मैं क्या सुन्दर का बाप नहीं हूँ; तुम्हीं बताओ। लड़के के बिना तो घर सूना-सूना-सा लग रहा है।

मुनीम—(सिर हिलाकर) हाँ, सो तो है ही।

राजो की माँ—आज सबेरे से मैं इनका रूप देख रही हूँ। कह रही हूँ कि रुपये के पीछे लड़के को हाथ से न खोओ, रुपया तो हाथ का मैल है। दस हज़ार क्या बड़ी बात है? पर इन्हें तो न जाने क्या हो गया है। शक्कर और सूद से इनका विचार छूटे तब न! मुनीमजी, मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, मेरा सुन्दर ला दो!

मुनीम—माताजी, घबराओ मत। सुन्दर को घर पर ही समझो।

राजो की माँ—घर पर कैसे समझूँ मुनीमजी, घबराऊँ क्यों नहीं? इनकी (पति की ओर इशारा करके) हालत देखकर तो मेरे जी में ऐसा हो रहा है कि मैं लड़का खो बैठूँगी। कहते हैं, जो होना था, सो हो गया। और लड़का....हाय! न मालूम इनसे यह कैसे ऐसा कहा गया। हे भगवान्!

राजो—मुनीमजी, मेरे भाई को जल्दी बुला दो। देखो, कई रातों से माँ सोयी नहीं है। सारी-सारी रात रोती रही है।

आँखें सूज गयी हैं। मेरे भाई को जल्दी ले आओ मुनीमजी! (रोने लगती है।)

राजो की माँ—मैं कहती हूँ, मेरा गहना लेकर बेच दो और मेरे लड़के को बचा लो।

मुनीम—घबराने की क्या बात है माताजी, सेठजी को भी तो आपसे कम फ़िकर नहीं है।

विसाखा०—हाँ, सो तो है ही। मैं भी कब सोया हूँ रात में। दिन-रात चिन्ता लगी रहती है। सुन्दर मेरी आँखों के सामने झूमता रहता है। उसके बचपन की बातें याद आती हैं। इधर इब्राहीम रुपया ही नहीं दे रहा है। क्या तुमने उसके सूद का हिसाब लगाया मुनीमजी? कितना हुआ उसके ऊपर? शक्कर कहाँ रखवायी है, गोदाम में न? देखो, तालियाँ अपने पास ही रखना। न हो तो मुझे दे जाओ।

मुनीम—सेठजी, सुन्दरलाल के लिए क्या हुक्म है? रुपये का इन्तज़ाम करूँ? बहुत थोड़ा वक़्त है। (सेठ की ओर देखता है) पन्द्रह हज़ार तिजोरी में अभी रखकर आया हूँ।

विसाखा०—दस हज़ारा! न कम न थोड़ा। अरे और कोई इन्तज़ाम नहीं हो सकता है मुनीमजी! पुलीस को ख़बर क्यों न कर दो!

मुनीम—पुलीस भी क्या कर लेगी सेठजी, पुलीस भी तो डरती है। और उसे क्या मालूम नहीं है? पर वह करे तब तो!

सेठजी, मैं तो आपको सलाह न दूँगा कि आप और कोई इन्तज़ाम करें। नहीं तो आप लड़के से हाथ धो बैठेंगे। न करे ईश्वर!

राजो की माँ—तुम किस संशय में पड़े हो मुनीमजी! लो, मेरा गहना ले जाओ। (उतारकर सामने रख देती है) लो, मेरे लड़के को ला दो। चलो, मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी।

विसाखा०—क्यों सब मेरे प्राण खाये जा रहे हो? गहना क्या घर का नहीं है?

मुनीम—सेठजी देर हो रही है, हुक्म दो।

राजो की माँ—कह तो रही हूँ, पहले जाओ। पठानों को दे देना।

विसाखा०—तो फिर मैं क्या करूँ? मुनीमजी, अलीबख़्श अपने गहने छुड़ा ले गया क्या?

मुनीम—देर हो रही है सेठजी! ख़ैबर फाटक पहुँचना है। क्या हुक्म है?

(दस हज़ार का ख़्याल आते ही फिर विसाखा बेसुध-सा होकर लेट जाता है।)

मुनीम—क्या आज्ञा है सेठजी, इसलिए जल्दी कर रहा हूँ, दूकान से कुछ आदमी साथ ले लूँगा।

राजो की माँ—अरे बोल तो दो। न बोलो। मुनीमजी, (अकड़कर) ले आओ रुपया। मैं क्या घर की, दूकान की कोई भी नहीं हूँ? आओ, देर न करो। हे भगवान्!

मुनीम—जो हुक्म। (चला जाता है)

राजो—(माँ से) अब भाई आ जायगा माँ!

माँ—हाँ बेटी, मुनीमजी लेने गये हैं। भगवान् का नाम लो, सुन्दर राज़ी-खुशी घर लौटे।

विसाखा०—(एकदम चेतन-सा उठकर) मुनीमजी गये? राजो, कहाँ गये?

राजो—हाँ गये, चाचाजी!

विसाखा—घर बरबाद कर डाला। क्या से क्या हो गया! लड़का कपूत निकला। हा! कैसे मैंने पैसा कमाया। दस हज़ार! हाय राम रे! (फिर लेट जाता है) अरी राजो की माँ, मैं मरा!

राजो की माँ—कह तो रही हूँ कौन बड़ी रक़म है। घर बच्चा आ जाय तो रुपये और हो जायँगे। परमात्मा ने सब कुछ तो .....हे भगवान्! दया करो। तुम इतनी चिन्ता क्यों कर रहे हो?

विसाखा०—चिन्ता न करूँ? (बैठकर) ख़ून की कमाई है, ख़ून की! आज चालीस साल से लगातार दिन-रात एक करके रुपया कमाया है। (लेट जाता है)

राजे की माँ—कमाया है तो क्या फ़ायदा! न तीर्थ, न जप, न तप, न व्रत। कभी हरिद्वार भी न ले गये। मैं तो तुम्हारा पैसा जानती ही नहीं। चार कोठियाँ हैं और हम इसी गली में पड़े सड़ रहे हैं। आज तीन चार लाख रुपये के मालिक हो। एक पैसा भी कभी दान न किया। ऐसा रुपया किस काम का?

बिसाखा०—(उठकर) आग लगा दे घर में! मुझे क्या? मुनीम ने आज की बिक्री का कोई हिसाब ही नहीं दिया। बेईमान हो गया है। हे भगवान्, (लेट जाता है) दस हज़ार रुपया इस नालायक़ के·····मुनीम कहाँ गया है राजो?

राजो की माँ—और रुपया होता ही किसलिए है? इसमें सुन्दर का क्या अपराध है भला?

बिसाखा०—मुनीम कहाँ गया? शायद उगाही करने गया होगा। हे रामजी, दया करो? (लेट जाता है)

[सुन्दरलाल और मुनीम का प्रवेश। राजो की माँ सुन्दरलाल को देखकर फूट-फूटकर रोने लगती है। राजो भाई से लिपट जाती है। लड़का दौड़कर पहले बिसाखाराम, फिर अपनी माँ के पैर छूता है।]

बिसाखा०—(पुत्र को देखकर) आ गया रे! बड़ी ख़ुशी हुई।

राजो की माँ—आज बेटे को देखकर छाती ठंडी हुई। (उससे लिपट जाती है।) मेरी आँखों के तारे!

राजो—मेरे भैया! (उसके गले से लिपट जाती है।)

राजो की माँ—इतने ही दिनों में कैसे दुबला हो गया!

सुन्दरलाल—हाँ माँ! भगवान् इन राक्षसों के पंजे में न डाले। देख, मार-मारकर तमाम देह सुजा दी है। (देह दिखाकर) हड्डी-हड्डी दुख रही है।

बिसाखा—बड़ा अच्छा हुआ बेटा! कैसे आये? क्या वैसे ही उन्होंने छोड़ दिया? मुनीमजी, आज उगाही में क्या मिला?

सुन्दरलाल—(मुनीमजी की ओर देखकर) दस हज़ार रुपये दिये थे न!

मुनीम—(घबड़ाकर) हाँ, सेठानी जी ने हुक्म दिया था न!

विसाखा०—क्या पूरे दस हज़ार!

[एकदम धड़ाम से तकिये पर गिर पड़ता है। सुन्दरलाल, मुनीम, राजो, विसाखाराम की ओर देखते हैं]

राजो की माँ—(सुन्दरलाल को थपथपाती हुई) इन्हें नींद आ गयी बेटा, आओ चलें।

(पर्दा गिरता है।)

परिशिष्ट

कठिन शब्दार्थ

बिसाती

बिसाती - सुई, तागा, चूड़ी, खिलौने इत्यादि वस्तुओं को बेचनेवाला
समीर - हवा
सौरभ - ख़ुशबू
अवगुण्ठन - घूँघट
विहग - पक्षी
अनिल - हवा, वायु
क्रन्दन करना - रोना
उपहार - भेंट, नज़र

संसार के सर्वश्रेष्ठ महात्मा

अनुयायी - अनुगामी, Follower
संवाददाता - Correspondent
इहलौकिक - इस लोक का
दन्तकथा - सुनी-सुनायी, परंपरागत बात, Legend
कपोल-कल्पना - मनगढ़ंत या बनावटी बात, गप्प, Fabricated thing
सहिष्णुता - सहनशीलता
पहलू - Aspect
किंवदन्ती - अफ़वाह, Rumour
यातना - तकलीफ़, पीड़ा, Torture
समकालीन - एक ही समय का, Contemporary
परिगणित - गिना हुआ
भूमिका - दीबाचा, Introduction
विश्लेषण - किसी पदार्थ के संयोजक द्रव्यों को अलग अलग करना, Analysis
अक्षुण्ण - बिना टूटा हुआ, Unbroken

राष्ट्रीय-महासभा और मन्त्रित्व-ग्रहण

आलोचना - Criticism
आश्वासन - दिलासा; Assurance
दिग्गज - बहुत बड़ा
वक्तव्य - बयान, Statement
मद्दे नज़र - दृष्टि में
नूतन - नया

वर्जन - त्याग, छोड़ना
अधिवेशन - बैठक, Session
निर्वाचन-संग्राम - चुनाव-युद्ध Election campaign

यह और वह

कतार - पंक्ति, Row
गिट्टी - पत्थर के छोटे छोटे टुकड़े
गुसलख़ाना - स्नानघर
भाथी - धौंकनी, Bellow
ख़ानसामा - रसोइया, Butler
साम्यवाद - एक प्रकार का पाश्चात्य सामाजिक सिद्धान्त। इसके प्रचारक समाज में बहुत अधिक साम्य स्थापित करना चाहते हैं और उसका वर्तमान वैषम्य दूर करना चाहते हैं। Socialism.

गुरु गोविन्दसिंह

भीष्म - भयंकर
क्रियाशील - तेज़, Active
विशेषतः - ख़ासकर
सम्मुख - सामने
अभिवादन - प्रणाम, नमस्कार
रियासत - राज्य
अनन्तर - बाद
उत्तराधिकारी - वारिस, Heir, successor
पूर्णाहुति - कुरबानी - Sacrifice
संवरण करना - बंद करना

अहिंसा और तलवार का उसूल

उसूल - सिद्धांत
कुदरतन - स्वभावतः Excited
अमल - व्यवहार
कामयाब - सफल
अख़्तियार करना - ग्रहण करना, To adopt
बुज़दिली - कायरता
जुर्रत - साहस, हिम्मत
ज़ालिम - जुल्म करनेवाला
ख़्वाहिश - इच्छा
लाज़मी तौर पर - अनिवार्य रूप से
हावी - कुशल
बड़ा पैमाना - Large scale
मक़सद - उद्देश्य
फ़िरकेवाराना - सांप्रदायिक
आमद - आना
हलिफ़या - शपथपूर्वक
दस्तख़त - हस्ताक्षर
शराफ़त - सज्जनता
कारगर - असरकारक, प्रभावशाली

मिलन मुहूर्त

अट्टालिका - अटारी, कोठा

कौशेय - रेशमी
रिक्त - ख़ाली
परिप्लावित - भीगा, आर्द्र
सिरहाना - चारपाई में सिर की ओर का भाग
सुरसरी - गंगा नदी

फ़ा-हियान की भारत-यात्रा

हर्षपूर्वक - ख़ुशी के साथ
उजाड़ - वीरान, निर्जन

हिन्दी साहित्य और मुसलमान कवि

संघर्षण - रगड़, Clash
जटिल - कठिन, Complicated
विषमता - असमता, विरोध
अग्रगण्य - जिसकी गिनती सबसे पहले हो, प्रधान, श्रेष्ठ
व्यवधान - भेद, विभाग

मुग़लों के समय का भारत

खेतिहर - किसान
हिदायत - आदेश, Instruction
तख़मीना - अंदाज़, अनुमान
ऐलान - घोषणा, राजाज्ञा
तहक़ीक़ात - जाँच, किसी विषय या घटना की ठीक ठीक बातों की खोज, अनुसन्धान
मुक्तकंठ से - पूर्ण स्वर से, आगा-पीछा किये बिना, Freely
बरख़ास्त करना - निकाल देना, नौकरी से अलग कर देना
सहस्रों - हज़ारों
न्यायाधीश - जज
ओहदा - पद

मौत के मुँह में

ज़िन्दा-दिल - रसिक, शौक़ीन, हंसमुख
बीहड़ - ऊँचा-नीचा जंगल, कठिन
निरामिषभोजी - मांस न खानेवाला, शाकाहारी
लत - बुरी आदत
आततायी - हत्यारा, Murderer
अलि - भौंरा
मर्मस्थान - प्राणियों के शरीर में वह स्थान, जहाँ आघात पहुँचने से अधिक वेदना होती है, Vital part
सेहरा - मौर, विवाह का मुकुट

देशी राज्य तथा नवीन शासन-विधान

समस्या - प्रश्न, Problem
केन्द्रीय - मध्य का, Central
श्रीगणेश - शुरूआत, आरंभ

प्रतिपादन करना - अच्छी त[illegible] समझाना
उत्तरदायित्वपूर्ण - ज़िम्मेदार
मनोनीत करना - नामज़द करना, To nominate

प्रेमचंद की कला

अलहदा - अलग
शिथिलता - ढिलाई
सामंजस्य - अनुकूलता, औचित्य
अखिलव्यापी - सब जगह रहनेवाला

मिनिस्टर

इस्तीफ़ा - त्यागपत्र
लाज़िमी - ज़रूरी
नियंत्रण - नियम में बाँधना या उसके अनुसार चलना
उल्लेख - ज़िक्र Mention
मंज़ूरी - स्वीकृति, Sanction

स्वदेश

अमलदारी - अधिकार
मरीचिका - किरण
झींगुर - एक बरसाती कीड़ा

महाजनी सभ्यता

लुप्त - नष्ट
महत्वाकांक्षा - बड़ी इच्छा Ambition
तिलांजलि देना - बिलकुल त्याग देना
मुरौवत - भलमनसी, शील-संकोच
जमघट - भीड़
टहलुआ - सेवक, ख़िदमतगार
बेहूदगी - अशिष्टता, असभ्यता
हेय -तुच्छ

हिन्दुस्तानी

सनसनी - उद्वेग, Sensation
पैग़ाम - संदेश
पाबन्दी - बंधन, क़ैद
दर्दसरी - कठिनता, दिक्कत
हमदर्दी - सहानुभूति
खराद - Lathe
पंजीरी - चीनी मेवा मिला घी में भुना हुआ आटा
बानगी - नमूना
बुनियादी - मौलिक

दस हज़ार

नामुराद - अभागा, बदक़िस्मत
तकाज़ा - मांगना